# भारत में राज्य की उत्पत्ति

रामशरण शर्मा

पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस

दामोदर धर्मानन्द कोसाम्बी स्मारक व्याख्यान (1987)

# भारत में राज्य की उत्पत्ति

रामशरण शर्मा

पीपुल्स पब्लिशिंग हाऊस (प्रा.) लि.

मूल अंग्रेजी संस्करण Origin of State in India नाम से
इतिहास विभाग, बम्बई विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित



प्रथम संस्करण : 1986
द्वितीय संस्करण : 2001
तृतीय संस्करण : 2009
चतुर्थ संस्करण : 2013

मूल्य : 30.00 रुपये

ISBN No.: 81-7007-143-7

शमीम फ़ैजी द्वारा डावरसन्स स्टाइलिश प्रिंटिंग प्रेस, 5 मलिक बिलडिंग, लक्ष्मी नारायण गली, चूना मण्डी, पहाड़गंज, नई दिल्ली-55 द्वारा मुद्रित और उन्हीं के द्वारा पीपुल्स पब्लिशिंग हाऊस (प्रा.) लिमिटेड, 5-ई, रानी झांसी रोड, नई दिल्ली से प्रकाशित।

इतिहास के वर्तमान और भावी छात्रों के लिए

# क्रम

# प्रस्तावना

मेरे लिए यह महती प्रतिष्ठा और सौभाग्य की बात है कि मुम्बई विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग ने द्वितीय कोसाम्बी स्मारक व्याख्यान देने के लिए मुझे आमंत्रित किया है। दुर्लभ प्रज्ञा के पुंज, दामोदर धर्मानंद कोसाम्बी ने ज्ञान-विज्ञान की विधि धाराओं में अवगाहन किया था। एक वैज्ञानिक के रूप में अपनी सारस्वत-साधना आरम्भ करते हुए, उन्होंने सांख्यिकी के क्षेत्र में सृजनात्मक योगदान किया; फिर मुद्राशास्त्री के रूप में ख्याति अर्जित की और तदुपरांत, मूल स्रोतों में अपनी गहन पैठ के बल पर, प्राचीन भारत के अग्रणी मार्क्सवादी इतिहासकार बने। कोसाम्बी ने ही पहली बार प्राचीन भारतीय इतिहास में सामाजिक, आर्थिक तथा अन्य प्रक्रियाओं के अध्ययन में उत्पादन-प्रणाली के सिद्धांत को लागू करने का गम्भीरता से प्रयास किया। उनकी प्रज्ञा से जनित विचार और अंतर्दृष्टियां न केवल भारत में, बल्कि अन्य देशों में भी आज अनेक शोधकर्मियों के चिंतन-मनन का विषय बनी हुई हैं। जब तक कोसाम्बी जीवित रहे, विश्वविद्यालयों से सम्बद्ध इतिहासकार उनके योगदान के महत्व को ठीक से समझ नहीं पाये। सातवें दशक में उन्हें सबसे पहले पटना विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग में, फिर अलीगढ़ विश्वविद्यालय में और बाद में भारतीय इतिहास कांग्रेस के इलाहाबाद अधिवेशन, 1965 में आमंत्रित किया गया। 1965 में ही अपनी पुस्तक **दि कल्चर एंड सिविलाइजेशन ऑफ एन्शियन्ट इण्डिया इन हिस्टोरिकल आउटलाइन** के प्रकाशन के साथ, इतिहासकार के रूप में उन्हें व्यापक ख्याति मिली। उनके निधन के दस वर्षों के भीतर तीन-तीन स्मृति-ग्रन्थों का प्रकाशन न उनके बौद्धिक प्रभाव की व्यापकता को सिद्ध करता है। इनमें से एक स्मृति-ग्रन्थ, जो मेरी पहल से निकला था, तीन बार प्रकाशित हो चुका है। महाराष्ट्र के बाहर भी कई अन्य संस्थाओं में कोसाम्बी व्याख्यान मालाएं चलायी गयी हैं और उनके नाम पर कई ऐतिहासिक संस्थाएं गठित की

गयी हैं। निस्संदेह, प्राचीन भारत के इतिहास में कोसाम्बी का दिशा और दृष्टि देने वाला योगदान काल की कसौटी पर खरा उतरा है और इतिहास के विद्वानों के लिए आज भी प्रेरणास्रोत बना हुआ है। ऐसे विद्वान की स्मृति में आयोजित व्याख्यान से स्वयं को जुड़ा पाकर मैं सचमुच प्रसन्न हूँ, और मेरा यही प्रयास रहेगा कि अपने इस व्याख्यान को उनके कुछ मंतव्यों से सम्बद्ध कर सकूं।

# [1]

# जनजातीय और पशुचारी समाज में राजनीतिक सत्ता का स्वरूप

आधुनिकों की दृष्टि से राज्य और सरकार (गवर्नमेंट) दो नितांत भिन्न संस्थाएं हैं। सरकारें आती-जाती रहती हैं, किन्तु राज्य सदा वही रहता है। नियम-कानून, रीति-नीति आदि सरकार के अंग माने जाते हैं। सरकार को राज्य का क्रियात्मक पक्ष माना जाता है। और वह सामाजिक और आर्थिक आवश्यकताओं के अनुसार बदलती रहती है। परन्तु प्राचीन भारतीय चिंतक राज्य और सरकार में भेद नहीं करते थे। तब राज्य की सम्प्रभुता राजा के माध्यम से चरितार्थ होती थी, जिसे अपने शासन-काल में घटित सारी घटनाओं का कारण माना जाता था। कहावत भी है– राजा कालस्य कारणम्। संस्कृत ग्रन्थों में सरकार या गवर्नमेंट के लिए अलग से कोई शब्द नहीं है। शासन का अर्थ है, शाही आदेश या भूमि अनुदान आदि की सनद, प्रशासन शब्द एडमिनिस्ट्रेशन के अर्थ में हाल में गढ़ा गया है। सरकार या गवर्नमेंट के अर्थ में शासन शब्द का प्रयोग भी हाल का है।

प्राचीन राज्य की पहचान कार्य और संरचना, दोनों के आधार पर हो सकती है। प्राचीन भारत में राज्य का मुख्य कार्य था, वर्ण-विभाजित समाज को कायम रखना तथा प्रजा की सम्पत्ति और पितृसत्तात्मक कुटुम्ब प्रणाली की रक्षा करना। वर्ण-व्यवस्था से समाज में असमानता आयी, इसलिए इसकी रक्षा का अर्थ था, वर्गीय असमानता को बरकरार रखना। राज्य का सामाजिक आधार वर्गीय असमानता थी। इसके चलते राज्य पर कुछ कार्यों की जिम्मेदारी थी, जिन्हें पूरा करने हेतु उसके लिए कुछ प्रभावी उपकरण विकसित करना जरूरी था। वर्ण, परिवार, सम्पत्ति आदि संबंधी जो विवाद उत्पन्न होते, उनमें राज्य को अपने अधिकरणों के जरिये मध्यस्थता करनी होती थी, और उसी का निर्णय अन्तिम

होता था। राज्य को अपने निर्णय को लागू करने के लिए अंततः बल अथवा दंड का प्रयोग करना पड़ता था। बेशक, ऐसे मामलों में सामाजिक दंड-विधान अथवा अभिमति का भी प्रचलन था। सामाजिक दंड-विधान अथवा अभिमति का अभिप्राय था, दुर्बल वर्गों द्वारा अंगीकृत प्रबल वर्गों के विचार। इसलिए राज्य-संबंधी किसी भी अध्ययन में यह पता लगाना आवश्यक है कि पेशेवर सेना तथा उसके लिए आवश्यक करों का उद्‌भव किस प्रकार हुआ।

बात भले ही बेतुकी लगे, पर कहा जा सकता है कि प्राचीन भारत में प्रचलित राज्य की धारणा बहुत-सी बातों में आधुनिक युग के राजनीति शास्त्रियों की धारणा से भिन्न नहीं थी। कौटिल्य के अनुसार, प्राचीन भारत में राज्य के सात अंग थे– राजा, अमात्यगण, सेना, जनपद, कोष, दुर्ग और मित्र।[1] आधुनिक परिभाषाओं के अनुसार किये गये राज्य के निरूपण में भी इनमें से अधिकतर अंगों का उपयोग किया गया है। आधुनिक राज्य के चार उपादान हैं – कर, क्षेत्र, लोकबल और लोक-अधिकारी।[2] कुछ विद्वान इस बात पर जोर देते हैं कि राज्य लोगों को मिलाकर रखता है और उनका हितसाधन करता है[3], लेकिन बल-प्रयोग[4] और आत्मसात्करण भी साथ-साथ चलते हैं। अंततः, राज्य को नियंत्रित करने वाले प्रभुत्वशाली समूह या वर्ग के हितों की पूर्ति के लिए दोनों तत्वों की जरूरत होती है। मैं यह दर्शाने का प्रयास करूंगा कि शासक वर्ग का उदय किस प्रकार हुआ, राज्य के निर्माण में इसकी क्या भूमिका रही; सरदार या मुखिया किस प्रकार अस्तित्व में आये और कैसे दान और खिराज बटोरने में समर्थ पुरोहितों व सम्बंधियों की सहायता से वे शासक-वर्ग के रूप में विकसित हुए। इतना ही आवश्यक है उस भौतिक स्थिति की प्रकृति को समझना जिसमें बचत करना और उस बचत को संगृहीत करना संभव हो सका।

प्राचीन भारत में राज्य के सिद्धान्तों पर बहुत-सी पुस्तकें लिखी गयी हैं, जिनमें कुछ के नामों में 'राज्य' शब्द भी लगा हुआ है, परन्तु सामान्यतः उनमें राज्य के निर्माण के बारे में कुछ खास नहीं कहा गया है। कुछ थोड़े-से अपवादों को छोड़कर, उनका विवेचन राज्य के उद्‌भव के सिद्धान्तों या राज्य-व्यवस्था (पॉलिटी) के विकास के इर्द-गिर्द सिमटा हुआ है। जिन पुस्तकों में राज्य-व्यवस्था के विकास पर विचार किया गया है, उनमें भी ध्यान राजा के ऊपर केन्द्रित रहा है। एक तरह से यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि राज्य के अंग चाहे जो भी हों, राजा ही समाज को समन्वित करता तथा एक सूत्र में बांधता था। वही निर्णयकारी

सत्ता का प्रतिनिधि होता था। न्यायिक विषयों में उसका कहा ही अन्तिम होता था और कर प्राप्त करने का एकमात्र वही हकदार था। वही सेनाध्यक्ष भी होता था। अतः यह स्वाभाविक ही था कि वैदिक और उत्तर-वैदिक ग्रन्थों में राजा पर मुख्यतः ध्यान केन्द्रित रहा और वह आज भी अधिकतर आधुनिक लेखकों के ध्यान का केन्द्र बना हुआ है।

प्राचीन भारत में राज्य-निर्माण की समस्या के अध्ययन में हमारे सम्मुख अनेक कठिनाइयां आती हैं। हमारे धार्मिक ग्रन्थों में यज्ञों में प्रयुक्त विभिन्न विधियों और प्रक्रियाओं का वर्णन आया है। यदि हम ऋग्वेद को छोड़ दें, तो अधिकांश वैदिक साहित्य यज्ञानुष्ठानों से संबंधित हैं। उत्तर वैदिक ग्रन्थों में उल्लिखित विभिन्न राज्याभिषेक संबंधी अनुष्ठानों के विवेचन से हम राज्य के उद्भव के विभिन्न चरणों और प्रक्रियाओं का अनुमान लगा सकते हैं।

प्राचीन काल में राज्य का अध्ययन करने वाले विद्वानों ने अपना ध्यान राजा के पद और कर्त्तव्यों पर ही केन्द्रित किया है और वे हमेशा राजा का अंग्रेजी अनुवाद 'किंग' करके भ्रम फैलाते रहे हैं। राजा शब्द का मूलभूत अर्थ है, दीप्तिमान (चमकने वाला) व्यक्ति-स्पष्टतः ही अपने शारीरिक और मानसिक गुणों और उपलब्धियों के कारण निर्वाचित सरदार या मुखिया, जिसका व्यक्तित्व ओजस्वी या दीप्तिमान होता था। **ऋग्वेद** में आये 'राजा' शब्द का अर्थ **शतपथ ब्राह्मण** में प्रयुक्त 'राजा' शब्द के अर्थ से भिन्न हो सकता है। बुद्ध के काल में मगध के नरेशों के संदर्भ में प्रयुक्त 'राजा' शब्द का अर्थ और भी भिन्न हो सकता है। वैदिक राजा को सरदार या मुखिया समझना वास्तविकता के कदाचित अधिक निकट होगा। लेकिन केवल सरदार या मुखिया पर सारा ध्यान केन्द्रित करने से हमारी समझ आगे नहीं बढ़ पायेगी। सेना, कर आदि भी चूंकि राज्य के घटक होते हैं, अतः उनके आरंभिक रूपों की छान-बीन भी आवश्यक है। इसके अलावा, वैदिक ग्रंथों और महाभारत के सारभाग में उल्लिखित बंधुजनीन संरचनाओं के विघटन का अध्ययन करना और वर्ण/वर्ग व्यवस्था में संक्रमण को स्पष्ट करना और भी महत्वपूर्ण होगा। जीविका-आधारित खाद्य उत्पादक अर्थ-व्यवस्था में बंधुत्व (रक्त-संबंध) का ढांचा अपेक्षाकृत सरल होता है। अधिशेष खाद्य का उत्पादन करने वाले अर्थतंत्र में तीव्रतर श्रम-विभाजन के कारण बंधुजनीन इकाइयां जटिल हो जाती हैं। बंधुजनीन संगठन के विघटित होकर विभिन्न वर्गों में विभाजित होने की प्रक्रिया का अध्ययन महत्वपूर्ण है,

क्योंकि वास्तविकता यह है कि हमारे अधिकांश लिखित इतिहास में राज्य मात्र शासक-वर्ग के हितों के प्रतिनिधि और उसकी आवश्यकता के अनुसार कार्य करने वाले के रूप में प्रस्तुत हुआ है। दामोदर धर्मानंद कोसाम्बी ने ठीक ही कहा है कि प्राचीन भारत में वर्ग, मोटे तौर पर, वर्ण से अभिन्न था।[5] अतः प्राचीन भारत में राज्य के गठन को तब तक नहीं समझा जा सकता जब तक यह न समझ लिया जाय कि वर्णों का गठन कैसे हुआ।

भारतीय राज्य और समाज के विकास का पहला महत्वपूर्ण चरण हड़प्पा संस्कृति में देखने को मिलता है, किन्तु लिखित स्रोतों के अभाव में हम सिन्धु घाटी में राज्य के उद्‌भव पर विचार नहीं करेंगे। ठीक इसी कारण मैं मध्य प्रदेश और महाराष्ट्र की महत्वपूर्ण ताम्रपाषाण संस्कृतियों को भी विचारांतर्गत नहीं लेना चाहूंगा। हो सकता है कि हड़प्पा राज्य प्रणाली के बिखर जाने के बाद उसके कुछ तत्वों का प्रभाव बाद के सामाजिक और राजनीतिक संगठन पर पड़ा होगा, पर इस परिकल्पना को साकार करने के साधन हमारे पास नहीं हैं। हम ऋग्वैदिक युग से आरम्भ कर सकते हैं, जिसका काल 1500 से 1000 ई॰पू॰ के बीच माना गया है। दुर्भाग्य से, अफगानिस्तान, पंजाब और उसके निकटवर्ती क्षेत्रों में फैली इस संस्कृति के संतोषप्रद पुरा-तात्विक प्रमाण अभी तक नहीं मिले हैं। ऋग्वेदकालीन समाज मूलतः पशुचारी समाज था। परन्तु अभी तक ऐसे पुरातात्विक अवशेष नहीं मिले, जिनके आधार पर ऋग्वैदिक जनों के पशुचारी जीवन के विषय में प्राप्त जानकारी को सत्यापित और अनुपूरित किया जा सके। फिर भी चित्रित-धूसर मृद्‌भांड व धूसर मृद्‌भांड का प्रयोग करने वाले लोगों तथा हरियाणा और पंजाब के चार स्थलों पर हड़प्पोत्तर मृद्‌भांड वाले लोगों के बीच कुछ परस्पर व्यापन (ओवरलैपिंग) के उदाहरण अवश्य दिखायी देते हैं।[6] चित्रित भूरे मृद्‌भांड को चूंकि उत्तर वैदिक लोगों के साथ सम्बद्ध किया जा सकता है, अतः ऐसा सोचा जा सकता है कि राज्य और समाज के गठन को हड़प्पोत्तर निवासियों से प्रेरणा मिली होगी, लेकिन अनुसंधान के इस सूत्र को पकड़ कर आगे बढ़ना कठिन है।

सत्ता का आद्यतन ढांचा क्या था, इसकी जानकारी के लिए हमें ऋग्वेद के पशुचारी समाज में निर्मित बंधुजनीन संगठनों का परीक्षण करना होगा। ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर गाय के बाड़े के अर्थ में गोत्र शब्द का प्रयोग हुआ है। यदि हम इसके शाब्दिक अर्थ को लें तो कह सकते हैं कि इन गोत्रों के गठन का

मूलाधार आर्थिक क्रियाकलाप रहे होंगे। गोत्र का अंग्रेजी अनुवाद क्लैन किया जा सकता है। इसी तरह **ऋग्वेद** में कई जगह **व्रात**[7] शब्द समूह या दल अथवा सभा के अर्थ में आया है। यह बंधुजनीन टोली होती थी। **व्रात** का शाब्दिक अर्थ व्रत रखने और रीति-रिवाजों का पालन करने वाला ही नहीं, दूध पर जीने वाला भी है। चूंकि **व्रात** का प्रयोग बंधुगण या बिरादरी के अर्थ में भी होता है, अतः संभवतः जो लोग साथ-साथ पशुपालन करते थे और गाय के दूध पर जीते थे, वे आपस में नाते-रिश्तों में बंध जाते होंगे। **व्रात** का नेता **व्रातपति** कहलाता था। कहा गया है कि **मरुत** (वायु के देवता) व्रातों में संगठित थे। मरुतों का **सर्ध** भी होता था। **सर्ध** को अंग्रेजी के शब्द **हर्ड** के समकक्ष रखा जा सकता है।

**व्राज** इनसे थोड़ा भिन्न है। इसका अर्थ संभवतः पशुपालन करने वालों और बाहरी कबीलों के आक्रमण से पशुओं की रक्षा करने वालों का दल था। **व्राजपति** का भी उल्लेख मिलता है, जो कदाचित उस दल का सरदार होता था, लेकिन यह स्पष्ट नहीं होता है कि **व्राज** विकसित हो कर बंधुजनीन दल बना या नहीं। यहां ग्राम शब्द भी विवेचनीय है। इसका प्रयोग सामान्यतः गांव के अर्थ में होता है। किन्तु पहले इसका अर्थ था, लोगों का समूह। **ऋग्वेद** में एक संदर्भ में इसका प्रयोग 'जन' या कबीले के अर्थ में भी मिलता है।[8] अतः ग्राम शब्द का संबंध पशु चराने और लड़ने से भी रहा होगा। बाद में इसने एक रक्त-संबंध आधारित पहचान विकसित कर ली। जब ग्राम के सदस्य खेती करने लगे और एक स्थान पर टिक कर रहने लगे तब इस शब्द का आशय उनकी बस्ती या गांव से लिया जाने लगा। पर **ऋग्वेद** में **ग्राम** शब्द का प्रयोग गांव के अर्थ में नहीं हुआ है। इन उदाहरणों से प्रकट होता है कि विभिन्न कुलों (स्टाक) के लोग युद्ध, शिकार और पशुचारण के चलते एकजुट होते थे और अन्ततः जीविका के अर्जन में सुविधा के लिए नये प्रकार के रक्त-संबंधमूलक सहकारों में बंध जाते थे। बंधुमूलक या वंशमूलक संबंध उत्पादन संबंधों पर खड़े हुए थे।[9]

बंधुत्व-आधारित इकाई भी, जिसे गण कहते थे,[10] मरुतों से संबद्ध है। मरुत् अंतर्कबीलाई लड़ाइयों में संलग्न रहते थे। गण के सदस्य एक सरदार के नेतृत्व में रहते थे जो गणपति कहलाता था; वही राजा भी रहा होगा। जब लूट के बाद गण के सभी सदस्य इकट्ठे होते थे तब हर सदस्य अपना-अपना लूट का माल अर्पित कर देता था।[11] जाहिर है कि यह अर्जित माल गण के सदस्यों के बीच बांटा जाता था। गण के सदस्यों में उम्र के अनुसार ज्यायान्स (बड़े) और

कनीयान्स (छोटे) के बीच भेद होता था, किन्तु खाने-पीने की चीजों में सभी समान भागीदार होते थे।[12] गण का उक्त उदाहरण यह सुझाता है कि ऐसी इकाइयों का अस्तित्व था जिनमें खाद्य और लूट का माल लाने वाले लोग अपने खाद्य और माल का, किसी बिचौलिये के हस्तक्षेप के बिना, उपभोग करते थे।

संगठित सत्ता के विकास का अगला चरण था, जनजातियों का उभार। जनजाति यह एक बड़ा-सा बंधुजनीन दल होता था, जिसका एक पुरुष सरदार होता था। ऋग्वैदिक समाज बहुत सीमा तक जनजातीय था। **जन** और **विश्** शब्द स्पष्टतः इसकी जनजातीय प्रकृति का संकेत देते हैं। ऋग्वेद में जन शब्द 275 बार और विश् शब्द 171 बार आया है। सभी स्थलों पर इनसे बंधुजनीन समुदायों का बोध नहीं भी होने से **ऋग्वेद** में इन समुदायों के महत्व को नहीं नकारा जा सकता। हमें **भरत जन** मिलते हैं, **यदु जन** मिलते हैं, और **त्रित्सु विश्** मिलते हैं। अनु, यदु, तुर्वसु, द्रह्य और पुरु इन पांच के साथ भी जन संयोजित है।[13] जन पितृसत्तात्मक बंधुत्व पर आधारित सबसे बड़ी इकाई थी। इसका प्रधान राजा या **जनस्य गोप्ता** होता था। वह गोप जनस्य या गोपति जनस्य भी कहलाता था।[14] इस सभी पदों के अर्थ एक ही है-जनजाति या कबीले का पालक। बाद में जन से जनपदों का उदय हुआ। जन के बाहर रहने वाला व्यक्ति जन्य कहलाता था। इसके प्रधान को **विशाम्पति** या **विशांपति** भी कहा जाता था, जिसका अर्थ हुआ कुल या कबीले का मुखिया।

जनजाति (कबीले) या अंग्रेजी ट्राइब शब्द का जो भी आशय रहा हो, हम इसे एक बंधुत्वमूलक इकाई के अर्थ में लेते हैं, जो कुल (Clan) से बड़ी होती थी। जनजातियां पशुचारी अवस्था में गठित हुई होंगी। **ऋग्वेद** में **पञ्चजन** से पांच जनजातियों या कबीलों का बोध होता है। वे पशुचारी हो सकते हैं, जैसे कि अन्य संदर्भों में प्रयुक्त गोप्ता जनस्य पद से ध्वनित होता है। ऋग्वेद काल में नाना बंधुजनीन समुदाय पशुओं को लेकर आपस में सतत लड़ते रहते थे। वैदिक जनों के बीच परस्पर और वैदिक-अवैदिक जनों के बीच भी युद्ध होते रहते थे। इन संघर्षों के फलस्वरूप विजेता सरदार परास्त सरदारों की शक्ति हथिया कर अधिक शक्तिशाली होते गये; और इस प्रक्रिया में बंधुत्व के प्रति निष्ठा का बंधन ढीला पड़ता गया।

हमें कई ऐसे भी वैदिक संघटन मिलते हैं जो एक साथ लड़ाई चुनाव, बटवारा आदि करते थे। अलग-अलग कार्यकलापों के लिए अलग-अलग

संस्थाएं नहीं बनी थीं। प्राक्-वर्ग समाज में इस प्रकार की संस्था नहीं मिलती, जो एक ही प्रकार के सुनिश्चित कार्यकलाप में लगी हो। इस संदर्भ में विदथ और विशेष कर सभा और समिति उल्लेख्य हैं। राजा और सरदार इस प्रकार के प्रायः सभी संघटनों से जुड़ा रहता था। वह उनकी बैठकों की अध्यक्षता करता था, युद्ध में नेतृत्व करता था और युद्धार्जित धन में सबसे अधिक अंश पाता था। इससे होमर का वह सरदार याद आता है जो सामुदायिक भोज में सबसे अच्छा मांस पाता था;[15] लेकिन ऐसा उसके कबीले के लोगों की सहमति और सद्भावना से होता था। वैदिक समाज में सरदार को जो अधिक अंश मिलता था, उसका कारण अवश्य ही उसके बाहुबल और बुद्धिबल का उत्कर्ष रहा होगा। वैदिकोत्तर काल में सबसे अच्छा हाथी, सबसे अच्छा घोड़ा और सबसे अच्छी स्त्री राजा को अर्पित करने की हम जो प्रथा पाते हैं, उसके पीछे सरदार को सबसे अच्छी चीज देने की पुरानी कबीलाई प्रथा रही होगी।

**समिति** द्वारा सरगना या राजा के निर्वाचन के कई प्रसंग मिलते हैं। **ऋग्वेद** के परवर्ती भागों में ज्ञात होता है कि जन सामान्य से, जो **विश्** कहलाता था, राजा बलि, अर्थात् कर उगाहता था। परन्तु ऐसे प्रसंग ऋग्वेद के पूर्ववर्ती भागों में अधिक नहीं मिलते। अतः प्रतीत होता है कि ऋग्वैदिक राजा या सरदार जो कुछ भी पाता था वह मुख्यतः भेंट या चढ़ावे के रूप में ही। कभी-कभी उसे अपने बंधुजनों या जनजाति के लोगों से, जो **विश्** कहलाते थे, कर उगाहने में बल-प्रयोग भी करना पड़ता होगा। ऐसा प्रतीत होता है कि वह अपने अनुयायियों से सम्मान भी पाता था। हमें एक राजा **चयमान अभ्यावर्तिन** मिलता है जिसने कुछ वैदिकजनों को हराया था। इस राजा में लगा हुआ चयमान विशेषण सम्मानसूचक है। राजा को ऐसा सम्मान अपने विशिष्ट पद के कारण और युद्ध संचालन में विशिष्ट कौशल के कारण मिलता रहा होगा। परन्तु ऐसे विशेष कारण वाली स्थिति को छोड़, सरदारों को **ऋग्वेद** काल में कोई नियमित भेंट या बलि नहीं मिलती थी। पेशेवर सिपाहियों के रखे जाने का किसी तरह संकेत नहीं मिलता। सरदार के पास कबीलाई जवानों का स्वैच्छिक सैन्यदल (मिलिशिया) रहता था। ऋग्वेद में सेना शब्द बीस से अधिक बार आया है। हमें कुछ ऐसे अधिकारी मिलते हैं जो विधि व्यवस्था संबंधी काम से जुड़े प्रतीत होते हैं, परन्तु वित्तीय, प्रशासनिक और न्यायिक कार्यों के निष्पादन के लिए कोई स्थायी तंत्र नहीं दिखायी देता, जबकि हर राज्य में इसका होना आवश्यक है। ऋग्वैदिक

शक्ति-संरचना में भूभाग का तत्व नहीं के बराबर था। लोग किसी भूभाग से उतना आसक्त नहीं रहते थे जितना अपने-अपने **जनों/विशों** से। इसमें संदेह नहीं कि पशुओं और चरागाहों को लेकर लड़ाई छिड़ती थी, पर भूभाग को लेकर लड़ाई कहीं नहीं दिखायी देती। फलत: ऋग्वेद में जैसे कर, भूभाग को लेकर लड़ाई कहीं नहीं दिखायी देती। वैसे ही राज्य के अन्यान्य घटक तत्व भी अलक्षित हैं।

फिर भी, राज्य निकायों को जन्म देने वाली प्रक्रिया ऋग्वेद काल में ही चल पड़ी थी, बंधुजनीन वैदिक कुलों और जनजातियों में आरम्भ में जो समदर्शी स्वरूप था, उसे निरन्तर चलने वाले पारस्परिक और बाहरी युद्धों ने मिटा-सा दिया था। **दाश राज्ञ** युद्ध के नाम से जो हम उसे दस राजाओं की लड़ाई पाते हैं, उसे उस सरदारों की लड़ाई कहना अधिक संगत होगा। ऐसी लड़ाइयों से विजयी सरदार की शक्ति में भारी वृद्धि होती होगी। सरदार अपने उत्कृष्ट बुद्धि-विवेक के आधार पर चुना जाता था। और तब तक अपने पद पर टिका रहता था जब तक समुदाय की सेवा अच्छी तरह करता रहता। उसके लड़ने वाले बंधु जो कुछ जीत कर लाते, उसे अर्पित कर देते। कालान्तर में जब सरदार अपने निकट बंधुओं और पुरोहितों का समर्थन पाकर अधिक शक्तिशाली हो गया तब उसको मिलने वाला विशिष्ट अंश स्थायी और नियमबद्ध हो गया। सदस्यों के बीच दुराव की कुछ झलक सभा-समितियों में मिलती है। **विदथ** में जहां हम समता का आभास पाते हैं; वहीं धनी और रथ पर आने वाले कुछ लोग मिलते हैं, और साथ ही सामान्य और साधारण जन भी मिलते हैं। इस तरह सामाजिक भेदभाव कुछ-कुछ शुरू हो गया था। हां, हम ऋग्वेद में वैसा सामाजिक स्तरीकरण नहीं पाते जैसा कि बाद में दिखायी देता है। उत्तर-वैदिक काल में ब्राह्मण की जीविका दान-दक्षिणा थी और राजन्यों/क्षत्रियों की जीविका कर; जबकि वैश्य उत्पादनकर्ता किसानों के स्तर पर आ गये थे, ऋग्वेद में चौदह बार ब्राह्मण का, नौ बार क्षत्रिय का और एक बार राजन्य का उल्लेख मिलता है; पर न तो ब्राह्मण और न क्षत्रिय कहीं भी संगठित श्रेणी के रूप में आये हैं। वास्तव में, क्षत्रिय शब्द बलवान् के अर्थ में वरुण की एक उपाधि या विशेषण के रूप में चार बार आया है।[16] जहां तक वैश्य और शूद्र का प्रश्न है, यदि हम दशम मंडल के एक प्रक्षिप्त अंश को छोड़ दें तो ऋग्वेद में इन दोनों का कहीं उल्लेख नहीं मिलता। लेकिन अपनी और अपने निकट बंधुओं की आवश्यकताओं तथा निरंतर चल रही लड़ाइयों की जरूरत पूरी करने के लिए राजा को **विश्** से

यदा-कदा कर उगाहना ही पड़ता था। यों तो सरदार या राजा के अपने ही बंधु लोग सिपाही का काम करते थे, फिर भी व्यवस्था बनाये रखने के लिए वह कुछ व्यक्तियों को काम पर रखता था।

**ऋग्वेद** में संगठित समुदाय के विकास की दो अवस्थाएं दिखायी देती हैं। सरदार या मुखिया का पद कुछेक परिवारों तक ही सीमित था। तीन पीढ़ियों तक की सरदारी ज्ञात है, पर ज्येष्ठाधिकारी-प्रथा नहीं दीख पड़ती है। एक ओर हम **गोत्र, व्रात, गण** आदि जैसे बंधुजनीन संगठन पाते हैं जो आकार में छोटे-छोटे हैं और नातेदारों के बीच गठित बिरादरी (Comraderies) माने जा सकते हैं, तो दूसरी ओर **जन, विश्** आदि संगठन हैं जो आकार में बड़े-बड़े हैं और अंग्रेजी में Clan (ज्ञाति) या Tribe (जनजाति) कहे जा सकते हैं। ये बड़े संगठन सभा और समिति से जुड़े थे। लगता है, समता का भाव जितना छोटे समूहों में था, उतना बड़े समूहों में नहीं। इस प्रकार, हम यह मान सकते हैं कि **ऋग्वेद** में राजनैतिक सत्ता के संगठन में दो अवस्थाएं रही होंगी। फिर भी, यह मन्तव्य एक सुझाव मात्र है।

यद्यपि **ऋग्वेद** के रचना-काल में राज्य का अस्तित्व तो नहीं था, पर कुछ ऐसी प्रक्रियाएं उसी समय शुरू हो गयी थीं जिनके चलते बाद में राज्य का उद्भव हुआ। इन प्रक्रियाओं में खेती का आरम्भ विशेष रूप से उल्लेखनीय है। आरम्भिक वैदिक समाज में तो खेती का कोई खास स्थान नहीं था, लेकिन इसमें संदेह नहीं कि वैदिक जन पश्चिम भारत में उन लोगों के सम्पर्क में आ चुके थे जो लोग खेती से भली भांति परिचित थे। इसलिए ऋग्वेद में खेती का तरीका वर्णित है वह बाद के काल में चारों तरफ फैल गया। जब वैदिक लोग मुख्यत: कृषक हो गये, तब उनमें क्षेत्र की अवधारणा आयी और वे अपने जीवन-यापन की आवश्यकता से कुछ अधिक उपजाने लगे जिससे अपनी उपज का कुछ अंश अपने सरदार को भी दे सकें। स्वभावत:, इससे राज्य के उद्भव का मार्ग प्रशस्त हुआ। उत्तर वैदिक काल में ऐसा वैचारिक पक्ष प्रबल हुआ जिससे सरदार की शक्ति में वृद्धि हुई। पुरोहितों ने धार्मिक अनुष्ठानों के महत्व को बढ़ाया। वे सरदारों से मिलने वाले दानों पर जीते थे और अपने यजमानों का गुणगान मुक्त कंठ से किया करते थे। अपने कर्म कांड और अनुष्ठान-व्याख्या से उन्होंने राजा की छवि उसके बंधु और अबंधु सामान्य जनों से कहीं अधिक उत्कृष्ट रूप में निखारी। **ऋग्वेद** के अष्टम मंडल में दाताओं की स्तुति देखने लायक है; यों

दानस्तुति अन्य मंडलों में भी आयी है। इन स्तुतिगानों के रचयिता पुरोहित लोग थे। ऋग्वेद में सात प्रकार के पुरोहित मिलते हैं। इनमें एक ब्राह्मण भी है, पर इसे कोई प्रमुख स्थान नहीं दिया गया है। चाहे जो भी हो, ऋग्वेद में योद्धा सरदारों का हौसला बढ़ाने में पुरोहितों की भूमिका उल्लेखनीय रही है। निरन्तर चलते अनुष्ठानों से सरदार की सत्ता प्रबल होती गयी जिससे सामान्य जनों से उसकी दूरी बढ़ती गयी। यह गतिविधि उत्तर वैदिक काल में अधिकाधिक तेज हुई।

## संदर्भ–


1. आर.एस.शर्मा, **आस्पेक्ट्स ऑफ पॉलिटिकल आइडियाज एंड इंस्टिट्यूशंस इन इंडिया**, द्विव, स., दिल्ली, 1968, पृ॰ 265–71।
2. **फ्रेडरिक एंगेल्स, दि ऑरिजिन ऑफ दि फैमिली, प्राइवेट प्रापर्टी एंड स्टेट**, प्रस्तावना के साथ एलीनर आर. लीकॉक द्वारा सम्पादित, न्यूयार्क, 1972, पृ॰ 228–30।
3. ऐसे विचार जे.एम. क्लासन तथा पीटर स्कालनिक, दि अर्ली स्टेट, माटन, दि हेग, 1978 में प्रकट हैं। रोनाल कोहेन तथा एलमन आर. सर्विस, सम्पा, **ओरिजिन ऑफ स्टेट, फिलाडल्फिया, 1978; टेड. लिविलेन, पालिटिकल एंथ्रोपोलौजी, बर्गिन एंड कार्वे पब्लिशर्स;** साउथ हैडली, 1983।
4. संघर्ष और बलप्रयोग की समस्या पर देखें, एलेन जंगरेंल, **'स्ट्रक्चरल डिस्कान्टीन्युइटी, ए क्रिटिकल फैक्टर इन दि इमरजेंस ऑफ प्राइमरी एंड सैकेंडरी स्टेट्स** (1), डायलैक्टिकल एंथ्रोपोलॉजी, X, 2 (1986) पृ॰ 155–177।
5. प्रस्तुत लेखक ने भी अपनी पुस्तक **सम एकॉनामिक आस्पेक्ट्स ऑफ दि कास्ट सिस्टम इन एंशियंट इंडिया**, पटना, 1951 में ऐसा ही विचार व्यक्त किया है।
6. आर.एस. शर्मा, **मैटीरियल कल्चर एंड सोशल फार्मेशन इन एंशियंट इंडिया, दिल्ली**, 1983, पृ॰ 1972–93।
7. आर.एस. शर्मा **मैटीरियल कल्चर एंड सोशल फार्मेशन इन एंशियंट**

**इंडिया**, पृ॰ 46–48। यह माना गया है कि "बान्धवगण (अथवा भाईबंद) ही पशु पालन कर सकते हैं।" ई.ई. इंवास-प्रिचार्ड "एकानामिक लाइफ ऑफ दि नुएर" **सुडान नोट्स एंड रेकार्ड्स**, 1937, जो एडेन साउथ हाल, "ऑन मोड ऑफ प्रोक्शन थीअरी: दि फोरेजिंग मोड ऑफ प्रोडक्शन एंड किन्शिप मोड ऑफ प्रोडक्शन", डायलेक्टिकल एंथ्रोपॉलौजी, XII, 2 (1987), पृ॰ 184 में उद्धृत है।

8. **गोत्र, व्रात और व्राज** पर विचार, आर.एस. शर्मा, मैटीरियल कल्चर, पृ॰ 46–48 में हुआ है।
9. वही, पृ॰ 46।
10. आर.एस. शर्मा, **आस्पेक्ट्स ऑफ पॉलिटिकल आइडियाज़** इत्यादि, अध्याय VIII।
11. **ऋग्वेद**, X, 34, 12।
12. **अथर्ववेद**, III, 30, 56 (व्हिटन का अनुवाद)
13. यह त्सिमर का मत है। अन्य वेदविज्ञों के अनुसार, पञ्च व्यापकार्थक पद है, जिसमें सभी जनों का समावेश अभिप्रेत है। और भी देखें, आर.एस. शर्मा, **मैटीरियल कल्चर** इत्यादि, पृ॰ 48।
14. आर.एस. शर्मा, **मैटीरियल कल्चर** इत्यादि, पृ॰ 51।
15. जार्ज थाम्सन, **एश्च्यूलस एंड एथेंस**, लंदन, 1973, पृ॰ 39; पृ॰ 41, 49, 282 भी देखें।
16. ए.ए. मैक्डोनेल, **वैदिक माइथालॉजी**, स्ट्रासबुर्ग, 1896, पृ॰ 25।

# [2]

# बान्धव टकराव और वर्णों का गठन

राज्य के उद्भव में जो अगली अवस्था आयी उसे जानने के लिए हमें 1000 ई॰पू॰ और 500 ई॰पू॰ के बीच पश्चिमी उत्तर प्रदेश, हरियाणा और राजस्थान में तथा उनके आस-पास के कुछ क्षेत्रों में घटित घटनाक्रम पर नजर डालनी होगी। यह ठीक वही काल और क्षेत्र है जिसमें उत्तर वैदिक ग्रन्थ संकलित-सम्पादित हुए। साथ ही, यह ठीक वह काल और वह क्षेत्र भी है जिससे संबंधित चित्रित धूसर मृद्भांड वाली 700 से अधिक बस्तियों के अवशेष मिले हैं। इनमें से अधिकांश बस्तियों में मद्रों, कुरु-पञ्चालों, शूरसेनों और मत्स्यों का निवास था, जिनका उल्लेख उत्तर वैदिक ग्रन्थों और **महाभारत** में मिलता है। उत्तर वैदिक संस्कृति चित्रित धूसर मृद्भांड वाली संस्कृति का प्रतिरूप प्रतीत होती है। ऋग्वैदिक समाज के विपरीत, उत्तर-वैदिक समाज प्रधानतः कृषक और स्थिरवासी समाज था। बेशक, लोग पशु-पालन को बहुत महत्व देते थे, लेकिन वे अन्न भी प्रचुर मात्रा में उपजाते थे। यों तो इस क्षेत्र का प्रिय भोजन गेहूं रहा है, पर ग्रन्थों में धान के उत्पादन का बार-बार उल्लेख मिलता है। इसके अतिरिक्त, कई तरह के दलहन और मूंग उपजाये जाते थे।[1] खेती के प्रचलन से बड़े पैमाने पर यज्ञादि अनुष्ठान करना सम्भव हुआ और राजा के बन्धुजन और दूसरे लोग उसे कर चुकाने में समर्थ हुए।

यज्ञ को गाड़ी भर अन्न माना गया है।[2] यह कथन बड़ा ही व्यंजक है। यदि हम **महाभारत**, आदि में वर्णित यज्ञों का सादृश्य लें तो ज्ञात होगा कि यज्ञादि अनुष्ठानों के जरिये असंख्य लोगों को भोजन-वस्त्रादि मिलते थे। अन्न की प्रचुर प्राप्ति के बिना यह संभव नहीं था। पुरोहितों और उनके अनेकानेक सहकारियों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए खाद्यादि सामग्री भारी मात्रा में अपेक्षित होती थी। ये सभी चीजें उन सरदारों के लिए भी अपेक्षित होती थीं जो ऐसे

अनुष्ठानों के अवसर पर सबन्धुबान्धव पधार कर अनुष्ठान को गरिमा प्रदान करते हुए कई दिनों तक जुटे रहते थे। पुरोहित लोग जानबूझ कर तरह-तरह के अनुष्ठानों के लिए अपने यजमानों को उत्प्रेरित करते रहते थे, क्योंकि ऐसे अनुष्ठानों से पुरोहित लोग मालामाल तो होते ही थे, साथ ही यजमान के प्रभुत्व को भी मान्यता प्राप्त होती थी और उनका अपना धार्मिक नेतृत्व स्थापित होता था। उत्तर वैदिक ग्रन्थों में ऐसे अनेक अनुष्ठानों का वर्णन और विधान है जिनका उद्देश्य राजकीय सत्ता या प्रभुता को मान्यता प्रदान करना है। इनके नाम हैं राजसूय, वाजपेय, अश्वमेध, एन्द्रमहाभिषेक आदि। इन वैदिक यज्ञों का फल वैदिक कर्मकाण्ड की व्याख्या करने वाले ब्राह्मण नामक ग्रन्थों में साफ-साफ बताया गया है। वाजपेय (बालपन का यज्ञ) में वैश्य को ब्राह्मण और राजन्य दोनों का भोज्य कहा गया है।[3] राजन्य/क्षत्रिय और ब्राह्मण के कल्याण की बारम्बार कामना की गयी है; इस बात पर जोर दिया गया है कि इन दोनों को आपस में मेल रखना चाहिए ताकि विश्, अर्थात् जनजातीय किसान उनके वश में रहें। उनके बीच मेल रहने पर ही वर्ण, धर्म या सामाजिक व्यवस्था सामान्य ढंग से चलती रहेगी।[4] ऐसे यज्ञानुष्ठानों की आवश्यकता इसलिए पड़ती थी कि **विश्** अर्थात् जनजातीय किसान लोग योद्धा सरदारों और उनके पुरोहितों का सतत आधिपत्य स्वीकार करने में आनाकानी किया करते थे। एक ही अनुष्ठान की परस्पर-विरुद्ध व्याख्याएं भी मिलती हैं; एक स्थान पर कहा गया है कि ब्राह्मण क्षत्रिय से श्रेष्ठ है और दूसरे स्थान पर क्षत्रिय को ब्राह्मण से श्रेष्ठ बताया गया है। इस परस्पर विरोध के होते हुए भी दोनों का स्थान **विश्** से ऊपर बताया गया है, जिसके विरुद्ध उन दोनों को एकजुट रहने की सलाह दी गयी है।

उत्तर वैदिक ग्रन्थों में प्रभुशक्ति के वाचक अनेक शब्द मिलते हैं, जैसे **राजन् राजन्य, राजन्यबन्धु, क्षत्र और क्षत्रिय; ऐतरेय ब्राह्मण** में आधिपत्य के जो दस प्रकार वर्णित हैं उनकी तो बात ही अलग है।[5] वह राजा जो कई राजाओं द्वारा चुना गया हो और अभिषेक का अधिकारी हो उसे अधिपति (Chieftain) समझा जाता था। **राजन्य** शब्द **राजन्** का लघुत्वार्थक है और इसका अर्थ है सरदार का निकट नातेदार। राजन्यों की संख्या राजाओं की संख्या से कहीं अधिक होती थी। राजन्य और क्षत्रिय पर्यायवाची हैं और कई स्थानों में राजन्य को क्षत्र कहा गया है।[6] क्षत्र का अर्थ सत्ता या शक्ति है। जिस किसी के पास सत्ता या शक्ति होती थी वह क्षत्रिय समूह में गिना जाता था; तद्नुसार, मरुत आविक्षित, जो अवैदिक वंश का आयोगव था, अभिषेक का अधिकारी समझा

गया है।[7] लेकिन जब क्षत्रिय एक कोटि या वर्ग बन गया तब वह एक प्रकार के बंधुत्वमूलक समुदाय में परिणत हो गया। दिलचस्प बात यह है कि बाद में चलकर इस क्षत्रिय शब्द का व्युत्पत्यर्थ, इसके मुख्य कर्तव्य के आधार पर, अर्थात् क्षत्र (अभिघात, चोट) से रक्षा करने वाला कल्पित कर लिया गया।

वैदिक ग्रन्थों में **क्षत्रिय** किसी वर्ण का सदस्य प्रतीत नहीं होता; वह अपने आप में उत्कृष्ट क्षत्रिय होता था; वह सर्वोच्च प्रमुख जैसा लगता था; और इस संदर्भ में कर्मकाण्डों से प्रकट होता है कि क्षत्र/क्षत्रिय और विश्/वैश्य के बीच सतत् संघर्ष चलता रहता था। सोम/यज्ञ के सौत्रामणी अनुष्ठान की एक विधि से यह प्रकट होता है कि क्षत्र विश् से ही फूटकर निकला है। देवों और पितरों को दी जाने वाली आहुतियों के प्रसंग में कहा गया है कि दूध चढ़ाने से यजमान को सोमरस मिलता है, और सुरा चढ़ाने से अन्न। तथा, दूध आधिपत्य (राजा) का द्योतक है और सुरा विश् (प्रजा) का। अन्त में कहा गया है कि वह पहले सुरा को शुद्ध करता है तब दूध को; इस प्रकार वह विश् (प्रजा) से क्षत्र (आधिपत्य) उत्पन्न करता है;[8] हालाकि कभी-कभी क्षत्र की उत्पत्ति ब्राह्मण से भी बतलायी गयी है।[9]

उत्तर वैदिक कर्मकाण्डों से प्रकट होता है कि सामान्य कबीलाई संरचना में कई प्रकार के अन्तर्विरोध थे। केन्द्रीय सरदार या राजा और बिखरे हुए अनेकानेक कुलों के सरदारों/राजाओं के बीच संघर्ष चलता रहता था। राजसूय यज्ञ के लिए विहित **गविष्टि** (गाय जीतने) की विधि में कहा गया है कि राजा राजन्यों के साथ युद्ध-लीला करेगा और उन पर तीरों से प्रहार करके विजय प्राप्त करेगा। जैसा कि आगे बताया जायेगा, केन्द्रीय सरदार विभिन्न ज्ञातियों या कुलों के सरदारों द्वारा चुना जाता था। इसके अलावा, केन्द्रीय सरकार या राजा और उसके निकट नातेदार राजन्यों, जिनके सहारे वह कर उगाहता था, दोनों के हित मिलते भी थे और टकराते भी थे। कमजोरी का सबसे बड़ा कारण था राजन्य और विश् के बीच का अन्तर्विरोध। प्रथम पक्ष में था अभिजात वर्ग, अर्थात् राजा के सहयोगी निकट नातेदार और द्वितीय पक्ष में था उत्पादक वर्ग, अर्थात् किसान का कार्य करने वाले सामान्य बन्धुजन। इस प्रकार का अन्तर्विरोध कई अनुष्ठानों में लक्षित होता है। बन्धु-समुदाय के भीतर, यानी भाईबंदों के बीच एक ओर राजन्य या क्षत्र और दूसरी ओर सामान्य किसान बंधुजन के बीच कर ही उगाही को लेकर खींचातानी निरन्तर चलती रहती थी। राजा या सरदार अपने लोगों

(बन्धुजनों) की रक्षा भी करता था और उनसे कर भी उगाहता था। वह कर का कुछ अंश उत्सव के अवसरों पर बांटता भी था, लेकिन इस बांट में अधिकाधिक भाग पुरोहितों को मिलता था, सामान्य बंधुजनों को नहीं। राजा करग्राहक था और साथ ही साथ वितरक और पालक भी। रक्षक और भक्षक के दो रूपों के बीच सामंजस्य नहीं हो पाता था। इसलिए राजा को **विशाम्पत्ति/ विश्पति** और **विशामत्ता** दोनों कहा गया है।[10]

उत्तर वैदिक ग्रन्थों में जो प्रबल जनमानस दिखायी देता है उसमें एक ओर सरदार (राजा, राजन्य, क्षत्र, क्षत्रिय) और दूसरी ओर विश् या किसान बन्धुजन के बीच भेद-बोध उभर कर आता है। इन दोनों के बीच के भेद को रेखांकित करने के लिए तरह-तरह की उपमाओं का प्रयोग किया गया है। प्रथम हरिण है, तो द्वितीय यव; प्रथम अश्व है, तो द्वितीय अन्य जन्तु; प्रथम सोम है, तो द्वितीय अन्य वनस्पति; प्रथम दूध है, तो द्वितीय सुरा; प्रथम अभिमन्त्रित इष्टक (ईंट) है, तो द्वितीय खाली जगह को भरने की ईंटें, प्रथम कलछा है तो द्वितीय चम्मच या छोटी कलछी; प्रथम इन्द्र है तो द्वितीय मरुत्; प्रथम महतृण है, तो द्वितीय लघुतृण, आदि-आदि। इन उपमाओं को पुरोहितों ने चलाया ताकि करदाता किसान राजन्यों/क्षत्रियों और ब्राह्मणों की श्रेष्ठता सहज भाव से स्वीकार करते रहें।

वर्ण व्यवस्था की स्थापना के प्रबल प्रयास किये गये। वैदिक काल का अन्त होते-होते जनमानस में वैश्व का अर्थ हो गया वह जो कर चुकाने के लिए, जो दूसरों के भोग के लिए, जो दूसरों का दमन सहने के लिए है।[11] वैश्यों से कर वसूल करना और उन्हें अपने वश में रखने का कार्य राजा न केवल ब्राह्मणों के धार्मिक और वैचारिक समर्थन के बल पर करता था, बल्कि उससे भी बढ़कर, अपने उन निकट नातेदारों की लाठी के बल पर भी करता था, जो उसके महत्वपूर्ण पदाधिकारी[12] तथा महारथी और कुशल धनुर्धर भी होते थे।

अपने दायाद समुदाय के भीतर निरन्तर चल रहे संघर्ष से निपटने के लिए सरदार सम्भवत: बाहर से भी सहायता लेता था और बाहरी लोगों को भरती करता था। इन बाहरी लोगों में पुरोहित और ब्राह्मण भी हो सकते थे, जो वैदिक और अवैदिक दोनों समुदायों से लिये जाते थे। सरदार पुरोहितों से धार्मिक और वैचारिक समर्थन चाहते थे और प्राप्त करते थे। **निषाद**, **आयोगव** और **अम्बष्ठ** सरदारों को वैदिक समाज में लाने और मिलाने में पुरोहित लोग सहायक हुए होंगे। इसी तरह अभिषेक-कर्म में भाग लेने वाले कुछ शिल्पी भी सरदार के अपने

बांधव-समुदाय से बाहर के कुलों के थे। सरदार ने अपने निकट नातेदारों की सहायता से जिन अन्य कुलों के लोगों पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया होगा, उनका समर्थन प्राप्त करने की भी चेष्टा की होगी। यह बात **मरुतों** के दृष्टान्त पर कही जा सकती है, जो किसानों या साधारण ज्ञातिजनों के देवता माने जाते थे। मरुत् कहे तो गये हैं रुद्र के पुत्र[13] लेकिन वे इन्द्र के सहचर होकर इन्द्रसखा कहलाने लगे।[14] स्पष्ट है कि अपने समर्थन के लिए अपने कुल से बाहर के लोगों को अपनाना इन्द्र ने अच्छा समझा। इस परिपाटी को वैदिक समाज के राजाओं ने भी अपनाया। इससे यह लगता है कि सरदार और उसके अभिजात-बन्धु-बांधव ढांचे के भीतर टकराव को सुलझाने के लिए अपने बांधव-समुदाय के बाहर से समर्थन प्राप्त करने का प्रयास किया करते थे।

**शतपथ ब्राह्मण** के अनेक अनुच्छेदों से यह स्पष्ट हो जाता है कि विश्, अर्थात् सामान्य बान्धव जनों को आधीनता और शोषण की हालत में गिरा देने तथा क्षत्रिय और ब्राह्मण को उनसे ऊपर उठाने के प्रयास किये गये थे। यह ग्रन्थ, जो ईसा पूर्व सातवीं सदी का है और जिसकी भौगोलिक परिधि में उत्तर बिहार का काफी भूभाग आ जाता है, विषयवस्तु की दृष्टि से उतना ही समृद्ध और सारवान है जितना **ऋग्वेद** और **अथर्ववेद**। इसमें वर्णित अनुष्ठानों से प्रकट होता है कि पुरोहित और जनजातीय सरदार लोग अपने निर्वाह हेतु दान/कर बटोरने के लिए कितने तत्पर और सचेष्ट रहते थे और इसके लिए वे वर्ण व्यवस्था के प्रवर्तक उपादानों को किस प्रकार बढ़ावा देते थे।

राजा सोम के संदर्भ में कहा गया है कि जब क्षत्रिय उच्च स्थान में रहता है, तब विश् निम्न स्थान में रहते हुए उसकी सेवा करता है।[15] हवन की वेदी बनाने के अनुष्ठान से भी प्रकट होता है कि क्षत्र और विश् के बीच कैसा संबंध था। वेदी ईंटों से उसी प्रकार बनायी जाती है जिस प्रकार क्षत्र (सरदार) विश् से प्रबल बनाया जाता है और विश् नीचे से उसका अनुयायी बनाया जाता है।[16] बार-बार कहा गया है कि स्तुत (अभिमन्त्रित) ईंटें क्षत्र की द्योतक हैं और खाली जगह भरने की ईंटें विश् की द्योतक। प्रथम भोक्ता है और द्वितीय भोज्य। यदि भोक्ता को पर्याप्त भोज्य मिले तो राज्य समृद्ध रहता है।[17]

ईंटें बिछाने की विधि की व्याख्या बार-बार की गयी है। अभीष्ट सदा यह रहा है कि क्षत्र को अधिक शक्तिशाली बनायें और विश् को उसका अनुयायी। यह भी कहा गया है कि विश् (प्रजा) को **पृथग्वादिनी** (अलग-अलग बोलने

वाली) और **नानाचेतस**[18] (अलग-अलग सोचने वाली) बनाये रखा जाय, अर्थात् प्रजा में फूट डाले रहें ताकि वह नियमानुसार कर चुकाने और सदा आदेश पालन में आनाकानी न कर सके। **सौत्रामणी** नामक सोमयज्ञ में दूध से भरी प्यालियों को क्षत्र (शासक) कहा गया है और सुरा से भरी प्यालियों को विश् (शासित)। बताया गया है कि उन प्यालियों को एक-दूसरे से जोड़े बिना अलग-अलग नहीं उठायें, क्योंकि ऐसा करने से क्षत्र से विश् और विश् से क्षत्र अलग हो जाएंगे और ऊंच-नीच का क्रम गड्डमड्ड हो जाएगा। लेकिन यदि उन्हें एक-दूसरे से जोड़कर उठायें तो ऐसा नहीं होगा और विश् को क्षत्र का अनुयायी बना रखा जा सकेगा।[19]

कुल के किसानों के शासक सरदार का, अर्थात् विश् को क्षत्र का, अनुयायी/आज्ञाकारी बनाये रखने की आवश्यकता के और भी साक्ष्य अश्वमेध यज्ञ के अनुष्ठानों में मिलते हैं। यज्ञ पशुओं में घोड़े को क्षत्र कहा गया है और अन्य पशुओं को विश्। देवताओं को अश्व आदि पशु-बलि देते समय आह्वान और मंत्र वहीं पढ़ना चाहिए जो उपयुक्त हो; अन्यथा प्रजा तुल्य होकर प्रत्युद्गमनी, अर्थात् विरोध में खड़ी होने वाली हो जाएगी और इससे यजमान की आयु कम हो जाएगी। किन्तु यदि पुरोहित लोग सब कुछ ठीक से करेंगे तो विश् क्षत्र के प्रति विनीत और वशवर्ती रहेगा।[20] इस सबसे प्रकट होता है कि स्वतंत्रता और समताप्रिय किसानों को काबू में रखना अत्यावश्यक समझा जाता था।

अभिषेक-संबंधी वाजपेय यज्ञ के एक अनुष्ठान से प्रतीत होता है कि राजन्य और वैश्य, दोनों अभिषेक पाने वाले यजमान के प्रतिद्वन्द्वी माने जाते थे। वैश्य या राजन्य प्रतिस्पर्धी रथ से, जो रथ-दौड़ में पराजित है, उतरकर वेदी के उत्तरी छोर पर बैठता है। उस राजन्य या वैश्य को एक प्याली सुरा दी जाती है, जिससे यह यजमान के लिए खरीदा जाता है। मालूम नहीं, इस तरह सुरा लेने से उस राजन्य या वैश्य का क्या हाल होता हैं। लेकिन ऐसा करके पुरोहित (नेष्ट्र) वैश्य पर "अनृत, कष्ट और अन्धकार" फेंकता है। दूसरी ओर, वह ब्राह्मण को स्वर्णकलश के साथ एक प्याला मधु देता है जो पाने वाले को अमरत्व प्रदान करता है।[21] पुरोहित और सरदार लोग किसी भी तरह वैश्यों को कष्ट और अज्ञान की अवस्था में रखने की अपनी आवश्यकता पूरी करते रहते थे। सौत्रामणी के प्रसंग में कहा गया है कि दूध के प्याले पहले उठाये जाते हैं और सुरा के बाद में, जिससे विश् क्षत्र का अनुगामी बनाया जाता है।[22] यह भी

कहा गया है कि सोम क्षत्र है और अन्य पौधे विश् हैं। जिस प्रकार विश् क्षत्रियों का भोज्य है, उसी प्रकार अन्य पौधे सोम के भोज्य हैं।[23]

घृत की आहुति-संबंधी एक अनुष्ठान में कहा गया है कि क्षत्रिय यह आहुति जुहू, अर्थात् छोटी कलछी से आहुति देगा तो भोजक और भोज्य के बीच अन्तर मिट जाएगा; दूसरे शब्दों में, आरंभिक समतावादी बंधुत्व पलट आएगा। दूसरी ओर, यदि वह यह काम बड़ी कलछी से करे तो वैश्य को वश में करेगा और उसे कहेगा–"वैश्य, तुमने जो जमा कर रखा है, वह मेरे पास ला दो।"[24] तथा, जिस राजा ने असंख्य लोगों के बीच अपने को प्रतिष्ठापित कर लिया है, वह एक घर (वेश्मन्) में रहते हुए भी उन्हें वश में करता है।[25] इन सारे संदर्भों से प्रकट होता है कि योद्धा सरदारों और किसानों के उभरते वर्गों के बीच स्पष्ट विभाजन हो चुका था। ये संदर्भ दर्शाते हैं कि पुरोहित किस प्रकार राजन्य/क्षत्रिय को उच्च स्थान और विश् को अधीनस्थ प्रजा का स्थान देते हैं।

वैदिक समाज में बढ़ते हुए विभेद की प्रतिच्छाया हमें देवलोक के समाज में भी मिलती है। मरुत् जो एक समय बड़े ही लोकप्रिय ऋग्वैदिक देव थे, ब्राह्मण ग्रन्थों में गिरी अवस्था में दिखायी देते हैं। कृषक प्रजाओं से अनाज के रूप में कर की वसूली पर नया जीवन खड़ा हुआ और इसके नये ढांचे में देवगण विभिन्न श्रेणियों और वर्गों में विभक्त हो गये। इन्द्र जैसा देवता मरुतों के मुखिया के ऊंचे पद पर पहुंच गया, और बेचारे मरुत् सामान्य किसानों की कोटि में आ गिरे। मरुत् रुद्र के पुत्र कहे गये हैं, इसलिए उनकी इन्द्र या वरुण के साथ कोई आत्मीयता या गोतियारी नहीं है। अतः जब हम मरुतों पर वरुण और इन्द्र को अपना प्रभुत्व जमाते पाते हैं,[26] तो यह स्पष्ट हो जाता है कि सरदार लोग अपने बन्धुओं पर ही नहीं, बल्कि अपनी गोतियारी के बाहर के लोगों पर भी अपना प्रभुत्व जमाते थे। अब राजा **विशामत्ता**, अर्थात् अपने किसान बन्धुओं को खाने वाला कहा जाने लगा।

आरम्भिक वैदिक युग में स्वयं जनजाति के बीच तथा बाहरी जनजातियों के साथ होनेवाली लड़ाई के परिणामस्वरूप शूद्र नामक नयी श्रेणी उदित हुई।[27] ऐसी लड़ाई मुख्यतः पशुओं को लेकर और दासी, आदि लूट के माल के बंटवारे को लेकर होती थी। जब उत्तर वैदिक काल में स्थिरवासी कृषक जीवन की अवस्था आयी, तब ऐसी लड़ाई में तीव्रता आयी और विविधता भी। लड़ाई आर्य/वैदिक बान्धव-समुदायों में ही नहीं, बल्कि अंकुरित हो रहे प्राक्-वर्ण

समुदायों के भीतर भी होती रही। मानसिक और शारीरिक श्रम के बीच जो विभाजन की चेष्टा चलती रही उससे तथा वैदिक एवं वैदिकेतर समुदायों के बीच निरन्तर चल रहे संघर्षों के फलस्वरूप चार वर्णों का जन्म हुआ, जैसा कि **शतपथ ब्राह्मण** से[28] तथा अन्यान्य उत्तर-वैदिक ग्रन्थों से स्पष्ट होता है। यद्यपि उत्तर-वैदिक ग्रन्थों में समाज का मोटे तौर पर चार वर्णों में विभाजन माना तो गया, पर उसे वैधता प्रदान नहीं की गयी और अच्छी तरह परिभाषित नहीं किया गया। कई संदर्भों में राजन्य का प्रयोग तो मिलता है, पर **क्षत्रिय** का नहीं; इसी तरह आर्य का प्रयोग है, पर **वैश्य** का नहीं; और कभी-कभी हम **विश्य** का प्रयोग भी पाते हैं। शूद्र ऐसे सभी संदर्भों में आया है, लेकिन जनजातीय स्थिति में शूद्र को अनेक प्रमुख वैदिक यज्ञों में भाग लेने का अधिकार था; जबकि आरम्भिक धर्मशास्त्रीय ग्रंथों में शूद्र को ऐसे यज्ञों में भाग लेने से वंचित किया गया है।

कर्मकांडों से प्रकट होता है कि राजन्य और विश् के बीच संघर्ष छिड़ता था और उसमें ब्राह्मण या अन्य प्रकार के पुरोहित राजन्य की ओर से बीच-बचाव करते थे। कई अनुष्ठानों में राजन्य और ब्राह्मण मिलकर विश् और शूद्र का सामना करते थे। यू.एन. घोषाल ने बहुत-से उदाहरण देकर यह दर्शाया है कि किस तरह उत्तर-वैदिक समाज में ब्रह्म और क्षत्र का बोलबाला रहा, किस तरह आपस में उनकी प्रतिद्वन्द्विता रही और किस तरह उनमें गहरा राजनैतिक गठबन्धन हुआ।[29] यजुर्संहिताओं में[30] तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में[31] दोनों उच्च वर्णों की रक्षा (अभय) की कामना वाली स्तुतियां मिलती हैं। कहा गया है कि वैश्य और शूद्र ब्राह्मण और क्षत्रिया से घिरे हैं[32] तथा, जो न क्षत्रिय हैं, न पुरोहित, वे अपूर्ण हैं।[33] राजसूय यज्ञ के परवर्ती रूप में वैश्य और शूद्र को द्यूत-क्रीड़ा में शामिल नहीं किया गया है।[34] फिर भी, हम **ऐतरेय ब्राह्मण** में देखते हैं कि राजा न केवल वैश्यों और शूद्रों को ही, बल्कि ब्राह्मणों को भी वश में रखने का प्रयास करता है। इस संदर्भ में राजन्य और क्षत्रिय और राजन्यों के बीच, सम्भवतः अबान्धव राजा और पुराने बान्धव अभिजात वर्ग के बीच, विश् से वसूले गये अन्न और पशुओं को लेकर या शूद्र समुदाय से प्राप्त दासों और दासियों को लेकर संघर्ष होते थे।

यद्यपि ब्राह्मणों और क्षत्रियों की भलाई इसी में थी कि वे वैश्यों और शूद्रों के विरुद्ध आपस में मिलकर रहें, फिर भी दोनों आपस में लम्बे युद्धों में संलग्न रहते थे। परशुराम की कथा कौन नहीं जानता है, जिसने बारंबार क्षत्रियों का संहार

किया। एफ.ई. पार्जिटर ने इस प्रकार के संघर्ष पर प्रकाश डाला है। प्रतीत होता है कि पनपते वर्णमूलक समाज में संघर्ष मुख्यतः सामाजिक श्रेष्ठता प्राप्त करने हेतु होते थे; और वैश्यों से प्राप्त भेंट और कर तथा शूद्र समुदाय से प्राप्त दास-दासी आदि श्रमिकों के बंटवारे का प्रश्न भी उनसे जुड़े रहते थे। क्षत्रियों में ज्ञानोत्कर्ष का दावा और यज्ञ-विरोधी भावना निश्चय ही इसलिए उदित हुई कि पुरोहितों को अपनी दान-दक्षिणा निरन्तर मिलते रहना उन्हें खलता था। अन्ततोगत्वा यह संघर्ष तब समाप्त हुआ जब क्षत्रियों ने ब्राह्मणों का धार्मिक नेतृत्व स्वीकार कर लिया और ब्राह्मणों ने क्षत्रियों का राजनैतिक नेतृत्व।

वैदिक काल के विभिन्न प्रकार के संघर्षों की चरम परिणति हुई वर्ण-व्यवस्था के उदय में, जिसके अनुसार वैश्यों और शूद्रों को ब्राह्मणों और क्षत्रियों की श्रेष्ठता शिरोधार्य हो गयी। इसी वर्णव्यवस्था के साथ राजा ने अपना अलग अस्तित्व कायम किया और धर्म (अर्थात् वर्ण धर्म) की रक्षा का भार अपने ऊपर लिया। उत्तर वैदिक काल में वर्ण और राजसत्ता के समर्थन में बहुत-सी आनुष्ठानिक और वैचारिक युक्तियां निकाली गयीं और वैदिकोत्तर काल में इस व्यवस्था की नींव पर खड़े किये गये धर्मशास्त्र ने वर्ण और राजसत्ता दोनों को सुदृढ़ और प्रतिष्ठित किया।

राजन्यों/क्षत्रियों की सत्ता को मजबूत बनाने में ब्राह्मणों की भूमिका सर्वोपरि रही, क्योंकि इन्हीं के सहयोग से वे वैश्यों और शूद्रों पर अपने आधिपत्य और श्रेष्ठत्व की धाक जमा सकते थे। सरदारों सहित **ब्राह्मण** विशों के भक्षक (विशामत्ता) और शूद्र, अर्थात् श्रमिक वर्ग के अधिपति बने रहे। अवैदिक ब्राह्मणों का वैदिक राजन्यों से किस प्रकार मेल हुआ यह तो स्पष्ट नहीं होता है, लेकिन पुरोहितों की प्रमुखता स्पष्ट दिखायी देती है। उत्तर वैदिक ग्रन्थों में सात प्रकार के पुरोहितों का उल्लेख मिलता है, जिनमें ब्राह्मण केवल एक हैं। बाद में, ब्राह्मण पूरी दक्षिणा में आधे हिस्से का दावा करने लगे और अन्य सभी प्रकार के पुरोहितों के पदों को हड़प लिया।[35] वैदिक समाज में पुरोहित-वर्ग को जितना प्रभुत्व प्राप्त हुआ उतना अन्य किसी भी भारतीय समाज में नहीं। और भी महत्व की बात यह है कि पुरोहित वर्ग ने तरह-तरह के अनुष्ठानों की कल्पना, विस्तार और व्यवस्था करके सामान्य किसानों का हक मारते हुए सत्ताधारियों की शक्ति और सुख-सुविधाओं को खूब बढ़ाया।

निरन्तर चल रहे युद्धों से शासक सरदारों की शक्ति बढ़ती गयी।

देवासुर-संग्राम **शतपथ ब्राह्मण** की सबसे महत्वपूर्ण कथा है।[36] देवताओं के चार गण या दल थे; अग्नि वसुओं का नेता था, सोम रुद्रों का, वरुण आदित्यों का और इन्द्र मरुतों का। असुरों को हराने के लिए सभी देवताओं ने इन्द्र की बड़ाई स्वीकार कर ली और उसे अपना प्रमुख या राजा बनाया। निर्णय किया गया कि स्वजनों के बीच लड़ाई नहीं होनी चाहिए। अब कई नायकों के ऊपर एक महानायक खड़ा हो गया। अश्वमेध यज्ञ की प्रथा से भी लक्षित होता है कि युद्ध से सरदार की शक्ति बढ़ाने में युद्ध की महत्वपूर्ण भूमिका रही।[38] कहना न होगा कि सरदार युद्ध में अर्जित धन का भारी हिस्सा अपनी और अपने अनुयायियों की शक्ति को बढ़ाने में लगाता था।

इस काल में लोहे के आविष्कार से भी सरदारों की सत्ता में वृद्धि हुई होगी। आरम्भ में लोहे का इस्तेमाल मुख्यत: लड़ाई में ही किया जाता था। हरियाणा, पश्चिमी उत्तर प्रदेश और उनसे संलग्न क्षेत्रां में 1000 ई॰पू॰ 500 ई॰पू॰ के काल के जिन चित्रित धूसर मृद्‌भांड स्थलों का उत्खनन हुआ है, उनमें बर्छे की नोकें और बाण के फल भारी संख्या में पाये गये हैं।[38] विभिन्न ज्ञातियों और जनजातियों के प्रधान की हैसियत से सरदार लोगों का धातु के उपयोग पर अवश्य ही विशेषाधिकार रहा होगा। फिर जब लोहे का इस्तेमाल होने लगा तब इससे बने हथियारों पर उन्होंने अपना एकाधिकार जमाया होगा। खुदाई में निकले बाण के फल और बर्छे की नोकें अधिकतर ज्ञाति-प्रमुखों या कुछ श्रेष्ठों की रही होंगी। प्रतीत होता है कि कर्मकार और रथकार उदित हो रहे योद्धा वर्ग के साथ विशेष रूप से जुड़े थे। युद्ध के सामान बनाने वाले शिल्पी के रूप में रथकार का विशेष स्थान था जैसा कि राज्याभिषेक के अनुष्ठान से प्रकट होता है।

कुछ वैज्ञानिक निष्कर्षों के आधार पर[39] कहा गया है कि वैदिक समाज में वरीय वंशज होने के नाते राजन्य लोग कनीय वंशजों की कोटि में उतर आये विश्, अर्थात् साधारण बन्धुजनों से कर उगाहते थे।[40] यद्यपि हमने जिन अनुष्ठानों का विवेचन किया है उनमें ऐसा नहीं कहा गया है कि राजन्य लोग वंश परम्परा में वरीय होने के आधार पर कर उगाहने के हक़ का दावा करते थे तथापि उठाया गया प्रश्न विचारणीय है। हमारी राय में निर्वाचित सरदारों की सन्तानों ने बल-प्रयोग का तरीका अपनाया जिससे समाज में अन्तर उत्पन्न हुए और इसी अन्तर ने रूढ़ होते-होते वंश-परम्परा का रूप धारण कर लिया। बन्धुजनीन, दायादी समूहों में उम्र, जीविकोर्जन में कौशल और अनुभव, युद्धों में नेतृत्व करने

की क्षमता आदि कारणों से कुछ लोगों को बड़ा समझा जाने लगा। अंग्रेजों को स्वभावत: जीविका के साधन जुटाने में अधिक अनुभव रहता था। इस अनुभव के साथ यदि उनमें कौशल, वीरता आदि गुण भी आ जाते तो वे सरदार हो जा सकते थे। इन्द्र के महाभिषेक से ज्ञात होता है कि वह "सबसे अधिक वीर्यवान, सबसे अधिक बलवान, सबसे अधिक सत्पुरुष और सबसे अधिक कार्यक्षम" होने के कारण ही राजा चुना गया।[41] इस प्रकार का चुनाव आरम्भिक वैदिक युग में होता होगा। हम **ऋग्वेद** के उत्तर भाग में[42] तथा **अथर्ववेद** में भी[43] राजा या सरदार के चुने जाने का संकेत पाते हैं। आरम्भिक वैदिक अवस्था में विश् या बन्धुजन एक समिति में जुटकर राजा को चुनते थे जो उनका पालक **विश्पति** या **विशाम्पति** होता था और उनसे बलि, अर्थात् चढ़ावा (स्वैच्छिक उपहार) प्राप्त करता था। अगली अवस्था में या उत्तर वैदिक काल में आकर राजा अपनी सत्ता को मजबूत बनाने के प्रयास में अपने निकट रक्त सम्बन्धियों की मदद लेने लगे और ये लोग **राजन्य** (राजा के हित) कहलाये। कालान्तर में ये लोग सामान्य विश् से विशिष्ट और पृथक हो गये। राजन्य लोग धनुर्विद्या में और रथचालन में कुशल थे तथा लड़ने, कर उगाहने और प्रजा की रक्षा करने में लगाये जाते थे। राजा को ब्राह्मणों का और कुछ वैदिकेतर सरदारों और शिल्पियों का भी समर्थन प्राप्त होता था। राजा का चुनाव कुछ राजकर्तृ (राजा बनाने वाले लोग) करते थे, जो आवश्यक नहीं कि राजा के बन्धु ही हों। तीसरी अवस्था में आकर राजा लोग भी अपना राजा चुनते थे, अर्थात् छोटे-छोटे सरदार एक बड़े सरदार को चुनते हैं। "जिस किसी को राजा लोगों (छोटे सरदारों) की अनुमति प्राप्त होती है, वह राजा होता है, जिसे अनुमति प्राप्त नहीं होती वह राजा नहीं होता है।"[44] यह वाक्य **शतपथ ब्राह्मण** में बार-बार आया है। अन्त में बड़ा सरदार या राजाओं का राजा इस प्रकार प्राप्त हुई सत्ता और सुविधा को अपने परिवार में ही बनाये रखने की कोशिश करने लगा। **ऐतरेय ब्राह्मण** में एक, दो या तीन पीढ़ियों तक राज्य स्थिर रखने के मन्त्र बताये गये हैं।[45] **शतपथ ब्राह्मण** में दशपुरुषीय राज्य का भी उल्लेख मिलता है,[46] लेकिन राज्य ज्येष्ठ पुत्र को ही मिले ऐसी बात नहीं थी, वह उसे न देकर प्रिय पुत्र को भी दिया जा सकता था।

कई प्रकार के सरदार लोग एक बार अपना पद और सुख-सुविधाएं प्राप्त कर लेने के बाद उन्हें निरन्तर हथियाये रखने की कोशिश करते थे। इस कारण कृषिक अवस्था में उत्पादन से प्रबन्ध का और शारीरिक श्रम से मानसिक श्रम का हमेशा के लिए अलगाव हो गया। सुविधा-सम्पन्न गुट को विशेषाधिकार मिले

और प्राथमिक उत्पादन-कार्य से उसकी छुट्टी हो इसके लिए कई युक्तियां विकसित हुईं, जैसे वरीयता, आनुवंशिकता, ज्येष्ठाधिकार-और तरह-तरह के अनुष्ठानों की तो बात ही क्या। इस तरह की बहुत-सी युक्तियां कर्मकांडों द्वारा स्वीकृत हुईं तथा पुरोहितों द्वारा परिकल्पित, विस्तारित और बार-बार अनुष्ठित होती रहीं।

आरम्भ में संसाधनों और जो भी थोड़ा-बहुत अधिशेष उपलब्ध था, उसका असमान वितरण विशिष्ट उपलब्धि के आधार पर शुरू हुआ, और उसके परिणामस्वरूप सम्पत्ति, प्रतिष्ठा, सत्ता और प्रभाव का उदय हुआ। ऐसा अनेक जनजातीय समाजों में पाया जाता है। मिजोरम के लुशाई कबीले में[49], रामहुआलों, अर्थात् जानकार किसानों से कहा जाता था कि वे झूम खेती के लिए अच्छी जमीन खोजें। जब वे इसमें सफल होते तो उन्हें सबसे पहले खेती की मनपंसद जमीन चुनने की अनुमति होती। जो वस्तु उपलब्धि और अनुभव के बल पर मिलती थी, वह काल-क्रम में आनुवंशिकता के बल पर और मिथकीय आनुष्ठानिक आधारों पर मिलने लगी। यही राजन्यों/क्षत्रियों के तथा ब्राह्मणों के संबंध में भी हुआ होगा।

बलवान सरदारों के उदय के साथ ही हमें सरदारों द्वारा शासित सीमांकित राज्य क्षेत्र के उदय का भी पता चलता है। राज्य-क्षेत्र की अवधारणा राष्ट्र या जनपद शब्द के प्रयोग में व्यक्त होती है। ये शब्द उत्तर वैदिक ग्रन्थों में मिलते हैं। सरदार अपने ज्ञातिजन से ही नहीं, बल्कि अपने भूभाग से भी जुड़ा रहता था।[48] महाभारत युद्ध भूभाग पर प्रभुत्व को लेकर ही लड़ा गया था। इस युद्ध का मूल था, कुरुक्षेत्र पर कब्जा या उस क्षेत्र से कर उगाहने का अधिकार। विवाद यह था कि यह अधिकार कुरुवंश की वरीय शाखा को मिले या कनीय शाखा में उत्पन्न ज्येष्ठ पुत्र को। इस युद्ध ने बान्धव या दायादी संस्था के सारे मूल्यों और सिद्धान्तों पर भारी आघात किया। इसमें विजय उनको मिली जो वास्तव में अधिक शक्तिशाली थे, जिन्हें अपनी ज्ञाति के प्रति उतनी निष्ठा नहीं थी, जितनी अपने क्षेत्र के प्रति और वर्णमूलक समाज के मूल्यों के प्रति।

क्षेत्रीय अथवा प्रादेशिक तत्व तो प्रकट हो चुका था, पर कर-प्रणाली भली भांति प्रतिष्ठित नहीं हो पायी थी। बलि (कर) बलपूर्वक उगाही जाती थी। न कर-निर्धारण का कोई संकेत मिलता है, न कर की नियमित उगाही का, और न किसी राजकोषीय अधिकारी का ही। भागदुघ का काम हिस्सा बांटना था, कर

वसूलना नहीं। पूषन् को देवताओं का **भागदुघ** कहा गया है क्योंकि वह देवताओं को अपने हांथों से अन्न परोसता था।[49] जब कर के रूप में या युद्धार्जित धन के रूप में अन्न और पशु संचित होते होंगे, तो सरदार इस संचय को अपने निकट नातेदारों के बीच या अपने बान्धवेतर कार्यकर्ताओं के बीच बांट देता होगा, क्योंकि बांटना सरदार का एक प्रमुख कर्तव्य होता था।

वैदिक सेना बन्धुजनों अथवा दायादों का दल होता था, जिसमें विश् रहते थे। मरुत्, जिनकी संख्या 36, 37 या 49 बतायी गयी है और जो देवों के समाज में विश् या किसान माने गये हैं, लड़ाकू दल के रूप में गठित थे।[50] कुरुवंश का राजा 64 सतत्-सन्नद्ध योद्धाओं से घिरा रहता था, और ये योद्धा उसके पुत्र और पौत्र होते थे।[51] जब पांचाल नरेश ने एक यज्ञ का आयोजन किया तो कवच लगाये 6033 तुर्वस योद्धा प्रकट हुए; ये तुर्वस लोग पांचाल के पांच कुलों में एक थे।[52] ये संस्याएं कहावती हो सकती हैं, लेकिन इतना तो स्पष्ट है कि योद्धा बन्धुजन, अर्थात् गोतिया ही होते थे। अश्वमेघ यज्ञ में घोड़े की रक्षा के लिए भारी सेना रंखनी पड़ती थी। इस बात का कोई संकेत नहीं मिलता कि सेना की भरती वेतन पर की जाती थी; प्रत्युत इसमें क्षत्रियों के साथ-साथ विश् भी[53] रहते थे जो सामान्यत: बन्धुजन ही होते थे। महाभारत से प्रकट होता है कि बन्धुजनीन इकाइयां कारगर नहीं हुई, क्योंकि उदित हो रही वर्ण व्यवस्था के कारण कुल के प्रति निष्ठा घट गयी और वर्ण धर्म के प्रति निष्ठा बढ़ी; राज्यक्षेत्र के लोभ के कारण लोग अपने दायादों को नष्ट करने को तैयार हो गये। कौरव-पाण्डव युद्ध की कथा में कोई सुनिश्चित राज्य प्रणाली नहीं दिखायी देती, हालांकि इस युद्ध में लोग विशाल संख्या में लड़ते दिखायी देते हैं। वे वेतन पाने वाले सैनिक नहीं, बल्कि दोनों पक्षों के बन्धुजन और रिश्तेदार ही थे।

लगता है, युद्ध के समय ज्ञाति या जनजाति भर के सभी शरीरक्षम पुरुष हथियार उठाते थे। उत्तर वैदिक काल में विश्/वैश्य बल का, अर्थात् फौजी ताकत का पर्याय हो गया था, जिससे ध्वनित होता है कि युद्ध के समय सारा कुल या बन्धुजनीन समूह लड़ाई में लगा दिया जाता था। लेकिन वैदिकोत्तर काल में वैश्व बलि या कर का पर्याय हो गया, बल राज्य का एक अंग हो गया, और लड़ना केवल क्षत्रियों का काम रह गया। नियमित कर-व्यवस्था के बिना वैतनिक सेना जुटाना और रखना सम्भव नहीं था। राजन्य लोग प्रशिक्षित योद्धा होते थे। सेना में सामान्य सैनिक और सेनापति के बीच कुछ अन्तर रहता था। सेनापति

रथ और अच्छे हथियार का प्रयोग करता था, जबकि सामान्य सैनिक या बन्धुजन केवल लाठी चलाते थे। फिर भी बन्धुत्व के लक्षण विद्यमान थे, क्योंकि सेनापति और सामान्य सैनिक एक ही पंगत में खाते दिखायी देते हैं।

हां, उत्तर वैदिक काल में हमें राज्य के कई अधिकारी दिखायी देते हैं। रत्निन् (रत्नधारी) कहलाने वाले बारह प्रकार के अधिकारी गिनाये जा सकते हैं। उनमें कई तो सरदार (जिसे राजा कहा गया है) की जाति के ही सदस्य मालूम पड़ते हैं। यद्यपि ये अधिकारी लोग सरदार के वशवर्ती होते थे, तथापि उसके राज्याभिषेक में उनकी भी औपचारिक अनुमति अपेक्षित होती थी। बहुत-से अधिकारी राजा के भाई-बंद नहीं होते थे; लगता है कि वे वैदिकेतर बन्धुजनीन समूहों से भरती किये गये होंगे और व्यापक जनजातियों में घुस-मिल गये होंगे। इससे प्रकट होता है कि निम्न स्तर पर आनुषंगिक बन्धुत्व विकसित होने लगा था।

राजसूय यज्ञ के अभिषेक-कर्म में तलवार बढ़ाने के अनुष्ठान की व्यवस्था से प्रकट होता है कि उत्तर वैदिककालीन सत्ता-सोपान में ब्राह्मण तलवार अपने हाथ से राजा के हाथ में देता है इसलिए राजा ब्राह्मण से दुर्बल, किन्तु अपने शत्रुओं से (जिनमें अवश्य ही ब्राह्मण नहीं शामिल होंगे) प्रबल होता है। राजा इस तलवार को अपने भाई के पास बढ़ाता है, भाई सूत या वैदिकेतर सरदार (स्थापित) के पास, फिर ये दोनों ग्राम प्रमुख (**ग्रामणी**) के पास, और ग्रामणी अपने गोतियों (सजातीयों) के पास। इस प्रक्रिया में हरेक देने वाला हरेक पाने वाले को अपने से दुर्बल बनाता है।[54] इससे हमें उस सत्ता-सोपान का आभास मिलता है जो कर चुकाने वाले भाई-बंदों या किसानों पर खड़ा था।

वैदिक काल बीतने-बीतते ब्राह्मण और राजन्य की कोटि आनुवंशिक हो गयी। पुरोहित और योद्धा के जो गुणोत्कर्ष थे, वे जन्मजात समझे जाने लगे। फलत: यहां हमें वंशवाद (Genealogical ideology) का तत्व दिखायी देने लगता है। यह कामना की गयी है कि ब्राह्मण का जन्म ब्रह्मन् (धर्मगुरु के पद या पंक्ति) में हो ताकि उसमें आध्यात्मिक तेज (**ब्रह्मवर्चस्**) रहे, और राजन्य का जन्म राजकीय सत्ता या पंक्ति (राष्ट्र) में हो, ताकि वह वीर, बाण चलाने में कुशल, अचूक लक्ष्यवेधक, व्याधिरहित और महारथी हो।[55] यह सब पूर्व काल में (पूरा) हुआ बताया गया है, जिसका आशय यह है कि पीछे चलकर ब्राह्मणों और क्षत्रियों में वे गुणोत्कर्ष जन्मजात नहीं होते थे, बल्कि जन्म के बाद अर्जित

किये जाते थे। उन दिनों तक **वंशमहात्म्य** या कुलीनता का मिथक (Genealogical myth) बहुत प्रबल नहीं हुआ था।

राजा की शक्ति में अपार वृद्धि होती गयी क्योंकि राजा के पद को आनुवंशिक बनाने की प्रवृत्ति चल पड़ी थी। आरम्भिक अवस्था में यह शक्तिवर्धन यज्ञानुष्ठान द्वारा किया जाता था, क्योंकि इन अनुष्ठानों के अवसर पर विजित जनजातियों, सरदारों और अपने बन्धुजनों से मिले और वसूले गये उपहारों और करों का वितरण राजा या सरदार द्वारा होता था। लेकिन यदि हम **ऋग्वेद** के परवर्ती भागों में आयी **दानस्तुति** पर दृष्टि डालें तो लगता है कि सरदार या राजा जो कुछ भी जुटा पाता था, उसका अधिकतर अंश उन पुरोहितों के हिस्से चला जाता जो राजसत्ता के समर्थन में राजा का गुणगान करते अघाते नहीं थे। इस प्रकार गाय, घोड़े, दास, दासी तथा अन्यान्य धन के असमान वितरण के फलस्वरूप पुरोहितों और योद्धा सरदारों के वर्ग प्रबल होते गये। उत्तर वैदिक यज्ञों में उस काल के संकेत मिलते हैं जब राजा बार-बार चुने जाते थे। राजा के चुने जाने की बात जातकों में भी आयी है। किन्तु जब एक बार कोई राजा अपने पद को आनुवंशिक बनाकर अपनी स्थिति और विशेषाधिकारों को सुदृढ़ कर लेता था तो फिर उसे अपने पद को बार-बार विधिमान्य बनाने की आवश्यकता नहीं रह जाती थी, जिसमें कि संचित धन का वितरण करना पड़े। वैदिक काल के अंत के आस-पास उपनिषदों में यज्ञों के विरुद्ध तीव्र प्रतिक्रिया दिखायी देती है, जिसका नेतृत्व क्षत्रियों ने और परवर्ती शताब्दियों में बौद्धों ने किया था।

कुल मिलाकर, उत्तर वैदिक काल में सत्ता का जो स्वरूप निखरा उसका रंग-ढंग आद्य राज्य का-सा था। समाज का रूप अब ऐसा बन गया था, जिसमें राज्य खड़ा हो सकता था; इसकी नींव कृषकों की बस्तियों में पड़ चुकी थी। अनिच्छुक किसान वर्ग से, जिसमें सरदार के भाई-बंदों के साथ अन्य लोग भी शामिल थे, कर उगाहने का अविरत प्रयास जारी था। अवितर कर-संग्रह के अभाव में वैतनिक सेना का गठन संभव नहीं था। अब भी सरदार और उसके भाई-बंदों के बीच दूरी अधिक नहीं थी। यदा-कदा राजा स्वयं भी हल चला लेता था और अपने बन्धुजनों में से तैयार किये गये सामान्य सैनिकों के साथ एक पंगत में खाता था।

राज्य पूर्णरूपेण कायम नहीं हो सका, क्योंकि कृषि से होने वाली उपज में बचत बहुत कम होती थी, गंगा के ऊपरी मैदानों में काठ के फाल वाले हल

से जो खेती होती थी उससे केवल निर्वाह करने लायक अर्थव्यवस्था बन पायी, प्रचुर अधिशेष पैदा करने वाली अर्थव्यवस्था नहीं। वैदिक लोग एक प्रकार का बरसाती धान साठी (षष्टिक) उपजाते थे जो साठ दिनों में पकता था।[56] वे रोपनी नहीं जानते थे। **शतपथ ब्राह्मण** में जो **प्लाशुक** शब्द आया है[57], उससे यह अर्थ निकाला जाता है कि उत्तर वैदिक काल में पानी में धान की रोपनी होती थी। किन्तु प्रतीत होता है कि जिस काल में **ब्राह्मण** नामक कर्मकांड ग्रन्थ लिखे गये उस काल में पानी में धान की खेती ज्ञात नहीं थी। भारी मात्रा में पशुवध होने से खेती में बाधा आती थी। और, लोहे का उपयोग सरदार लोग लड़ाई में भले ही करते हों, पर खेती के काम में इसका व्यापक उपयोग नहीं होता था। इन सीमाओं के बावजूद, राज्य से जुड़े कुछ अंग स्पष्ट रूप से निखर चुके थे।

## संदर्भ–

1. आर.एस. शर्मा, **मैटीरियल कल्चर...**, पृ॰ 69-76।
2. शतपथ ब्राह्मण, I 1. 2. 7।
3. पञ्चविंश ब्राह्मण, **VI. 1. 10; शतपथ ब्राह्मण, V. 2.1. 17.; VIII. 7.** 1. 2. 2. 2।
4. **वैदिक इन्डेक्स**, 1, पृ॰ 204, पादटि, 11 और 12।
5. **VIII.** 6। इन्हें भ्रमवश दस प्रकार के राज्य समझा जाता है।
6. **शतपथ ब्राह्मण**, XII 7. 3. 12।
7. आर.एस. शर्मा, **शूद्राज...**, पृ॰ 60।
8. **विशो हि क्षत्रम् जायते, शतपथ ब्राह्मण**, XII 7. 3. 8।
9. **शतपथ ब्राह्मण, XII** 7. 3. 12। यह उस प्रचलित मिथक का भाग है, जिसके अनुसार ब्राह्मण के विभिन्न अंगों से चारों वर्णों का जन्म हुआ।
10. **तैत्तरीय संहिता**, 1. 8. 15, टीका के साथ, जो **सेक्रेड बुक्स ऑफ दि ईस्ट, XLI** पृ॰, 100, पादटि में उद्‌धृत है।
11. वैश्य को **अन्यस्य बलिकृत, अन्यस्याद्य** और **यथाकामज्ञेय** कहा गया है। देखें **ऐतरेय ब्राह्मण, VII** 29।

12. **तस्माद राजन्येन अध्याक्षेण वैश्यम्, ध्नन्ति, काठकसंहिता, XXVIII.** 4।
13. **ऋग्वेद**, I 38. 7; यहां मरुतों को **रुद्रिय** कहा गया है।
14. **मरुत्वत्** (मरुतवाला) इन्द्र का एक परिचायक विशेषण है, ए.ए. मैक्नोनेल, **वैदिक माइथालॉजी**, पृ॰ 57; मरुद्गण (मरुतों की मंडलीवाला) भी इन्द्र का विशेषण पाया जाता है। वही।
15. **शतपथ ब्राह्मण, III** 9. 3. 6; देखें से बु.ई., **XXVI** पृ॰ 228, पादटि. 2।
16. वही, **IX** 4. 3. 3-4।
17. वही, **VI** 1. 2-25।
18. वही, **VIII** 7. 2. 3। व्यतिक्रम के अर्थ में पापवश्यस् शब्द का प्रयोग है।
19. **शतपथ ब्राह्मण, XII** 7. 3. 12 और 15।
20. वही, **XIII** 2.2.15।
21. वही, **V** 1.5.28।
22. वही, **XII** 7.3.12।
23. वही, **III** 3.2.8।
24. वही, **I** 3.2.15।
25. वही, **I** 3.2.14। मुझे इस और पिछले निर्देश की सूचना के.पी. जायसवाल रिसर्च इंस्टिच्यूट के विजय कुमार चौधरी से मिली।
26. संदर्भ के लिए ए. मैकडोनेल, वैदिक माइथॉलॉजी, में वरुण, इन्द्र, रुद्र और मरुत् का प्रसंग, पृ॰ 22-29, 54-66, 74-77 और 77-81 पर देखें।
27. आर.एस. शर्मा, शूद्राज..., पृ॰ 9-45।
28. **V** 5. 4. 9।
29. **हिन्दू पब्लिक लाइफ**, भाग **I**, कलकत्ता, 1944, पृ॰ 73-80।
30. **कण्व संहिता, XX.** 2।
31. **शतपथ ब्राह्मण**, 5.2.11: 6.1.17-18, **IX** 4.1.7-8।
32. वही, **VI** 4.4.12-13।

33. वही, **VI** 6.3.12–13।
34. आर.एस. शर्मा, **शूद्राज...**, पृ॰ 57।
35. आर.एस. शर्मा, **मैटीरियल कल्चर...**, पृ॰ 82। पद हड़पने का कारण अनुसंधेय है।
36. **शतपथ ब्राह्मण** III 4.2.2–3 **ऐतरेय ब्राह्मण, I** 24।
37. **शतपथ ब्राह्मण, XIII**।
38. आर.एस. शर्मा, **मैटीरियल कल्चर...**, पृ॰ 60–61।
39. पी.पी.रे, 'लिनिएज मोड ऑफ प्रोडक्शन'। **क्रिटिक ऑफ एन्थ्रोपॉलौजी**, 1975, अंक 3 में कुछ उत्तेजक विचार प्रकट किए गए हैं, किन्तु लेखक ने वयोमूलक और लिंगभेदमूलक द्वंद्व को जो शोषण और वर्गसंघर्ष के रूप में लिया है उसकी कड़ी आलोचना सी. मेलासाक्स आदि कई नृविज्ञानियों ने की है। एडेन साउथहाल, पूवेद्धृत, पृ॰ 181 और 192: पादटि 162।
40. रोमिला थापर, **लिनिएज एंड स्टेट**, दिल्ली 1984।
41. **ऐतरेय ब्राह्मण, VIII** 12–17।
42. **X** 266. 4।
43. **III** 4. 2।
44. यस्मै या राजानो राज्य अनुमन्यन्ते स राजा भवति, न स यस्म न; **IX** 3. 4.5: **IX** 4.1.1 और 13; **IX** 4.3.12।
45. **ऐतरेय ब्राह्मण, VIII** 7।
46. **ऐतरेय ब्राह्मण**, 9.3.4।
47. एन.ई. पैरी, **ए मोनोग्राफ जॉन लुशाई कस्टम्स एण्ड सेरेमॉनीज, आइजवाल**, 1973, पृ॰ 7–8।
48. **तैत्तिरीय संहिता, I** 8.2; **II** 3.1; **शतपथ ब्राह्मण, IX** 4.1.1।
49. **शतपथ ब्राह्मण, I** 1.2.17।
50. वही, **V** 4.3.17। ए.ए. मैकडोनेल, **वैदिक माइथालॉजी**, पृ॰ 77–81।
51. **ऐतरेय ब्राह्मण, III** 48।

52. एच.सी. रायचौधरी, **पॉलिटिकल हिस्ट्री ऑफ एंशिएंट इंडिया**, 7वां संस्करण, कलकत्ता 1972, पृ॰ 66।

53. **शतपथ ब्राह्मण**, **IV** 3.3.1.151; **IV** 4.3.8।

54. वही, **V** 4.4.15-19।

55. वही, **XIII** 2.1.1-2। ऊपर जो रूपांतर दिया गया है वह जूलियस एग्लिंग के अनुवाद, से.बु.ई., **XLIV**, पृ॰ 294, पादटि, 2 सहित पर आधारित है।

56. वही, **II,** पृ॰ 345।

57. **प्लाशुक** शब्द का व्युत्पत्यर्थ है प्ल (प्र) + आंशु + क 'पुनः शीघ्र बढ़ने वाला'। देखें, मोनियर विलिअम्स, **संस्कृत-इंगलिश डिक्शनरी**, ऑक्सफोर्ड, 1951।

# [3]

# राज्य का उदय

राज्य की संरचना में अन्तिम चरण मध्य गंगा मैदान में ईसा पूर्व प्रथम सहस्राब्दी में प्रकट होता है। इस पर अधिक प्रकाश डालने की आवश्यकता नहीं है। छोटानागपुर में पाये गये उत्तम कच्चे लोहे से परिचित लोगों ने लौह-शिल्प विज्ञान के उपयोग में भारी प्रगति की। लगता है, वे इस्पात बनाने का कौशल भी प्राप्त कर चुके थे। इन सबके फलस्वरूप लोहे के फाल तथा खेती के अन्य औजारों का इस्तेमाल सम्भव हुआ। धान रोपने का कौशल भी उन्हें ज्ञात हुआ और इस तरह उपजा धान **शालि** नाम से विदित हुआ। नक्षत्रों का ज्ञान भी कृषि कार्य में सहायक हुआ। लेखन-कला और धातु मुद्रा के प्रचलन से उत्पादन को बढ़ावा मिला। इन सबसे प्रचुर फाजिल उपज ( **अधिशेष** ) होने के अनुकूल परिस्थिति बनी। किसान राजा को नियमित रूप से कर चुकाने में तथा भिक्खुओं और पुरोहितों को दान-दक्षिणा देने में समर्थ हुए। राजा और उसके अधिकारी लोग करों पर जीने लगे और धर्माचार्य लोग दानों पर। बुद्ध के युग में वैश्य ही मुख्य करदाता थे; मध्य गंगा के इलाकों में क्षत्रिय और ब्राह्मण कर-मुक्त थे, यद्यपि उनके पास धन का अभाव नहीं था। शूद्र लोग दास, घरेलू सेवक और खेत-मजदूर के रूप में खटते थे। यह वैदिकोत्तर काल की सर्वथा नई स्थिति थी, क्योंकि वैदिक काल में मजदूर (वेतन पर खटने वाला) नहीं होता था। हर वैदिक परिवार अपने खेत का काम परिवार के लोगों की सहायता से स्वयं कर लेता था, हालांकि कभी-कभी शायद दासियों से भी खेती का काम कराया जाता था। लेकिन अब संगठित पुरोहित वर्ग और योद्धा वर्ग के खड़े हो जाने से अधिक उपज और अधिक श्रम की आवश्यकता आ पड़ी।

बुद्ध के काल में कुछ भूधारी ब्राह्मणों और सेट्टियों/गहपतियों को अपने खेतों में काम कराने के लिए दासों और खेत-मजदूरों की आवश्यकता होती थी।

इनकी बातें छोड़ दें तो आमतौर पर उत्पादन के साधनों पर असमान कब्जा शायद ही था।

पशुधन का असमान विभाजन होता होगा, लेकिन खेत और चारागाह जैसे महत्वपूर्ण संसाधनों के विभाजन में अधिक वैषम्य नहीं था। वास्तव में बात यह हुई कि उत्तर काल में आकर फाजिल उपज या अधिशेष के असमान वितरण को विधिसम्मत बना दिया गया। ब्राह्मण और क्षत्रिय मुख्यतः उत्पादन का प्रबन्ध करने लगे और वैश्य प्राथमिक उत्पादन में लग गये। उत्पादन और उसके प्रबन्ध का पृथक्करण जो वैदिक काल के अन्तिम भाग में आरम्भ हुआ था, वैदिकोत्तर काल में आकर पूर्णरूपेण प्रकट हुआ। इस कार्यविभाजन में शोषणात्मक संबंध का तत्व प्रबल होता गया, जिसे बाद में वर्ण-व्यवस्था के रूप में मान्यता मिल गयी। नाना प्रकार के बन्धुजनीन समुदाय, चाहे वैदिक हों या अवैदिक, किसी-न-किसी वर्ण में लीन हो गये। अब वर्ण का महत्व उत्पादन मूलक संबंधों के क्षेत्र में बन्धुत्वमूलक समुदाय से कहीं अधिक हो गया था।

वर्ण-संघटन राज्य का सामाजिक आधार बन गया। वर्णों के कर्तव्य और अधिकार नियमबद्ध किये गये और राज्य-सत्ता के प्रतीक-पुरुष, राजा का मुख्य कर्तव्य हुआ वर्ण व्यवस्था और तदनुरूप धर्म की रक्षा करना। राजा की इस जिम्मेवारी पर सभी धर्मशास्त्रों तथा अन्यान्य हिन्दू ग्रन्थों में जोर डाला गया; वास्तविक स्थिति भी उससे भिन्न नहीं थी जो इन ग्रन्थों में निर्धारित है। राजा का यह भी कर्तव्य था कि वहां पितृसत्तात्मक परिवार-व्यवस्था की रक्षा करे तथा शारीरिक और साम्पत्तिक अपराधों का दंड दे। ये सभी काम उस धर्म के मूलभूत अंग थे जिसकी रक्षा करना राजा का चरम कर्तव्य था। इन कामों में राजा की सत्ता को कोई चुनौती देने वाला नहीं था; उस पर केवल धर्मशास्त्रविदित धर्म मानने की पाबन्दी थी। इसलिए वैदिकोत्तर काल के संस्कृत या पालि ग्रन्थों में जो राजा आया है उसे सरदार नहीं, बल्कि सेना और अधिकारियों से लैस शक्तिशाली राजा समझना चाहिए। राजा मूलतः किसी महाजनपद या बड़े राज्य क्षेत्र के प्रधान के रूप में देखा जाता था। लोगों में स्वीय भूभाग (अर्थात् अपने देश) के प्रति निष्ठा उत्पन्न हो चुकी थी, पर अपनी जाति के प्रति निष्ठा लुप्त नहीं हुई थी। कहना न होगा कि इस काल में आकर कर-प्रणाली की जड़ें जम चुकी थीं। भूमि कर राजस्व का मूल स्रोत था; व्यापार, दंड आदि पूरक स्रोत थे। कर के निर्धारण की रीति, उगाही का अभिकरण और कराधान के सिद्धान्त भी विदित हो चुके थे।[1]

सभी प्राचीन समाजों में कर का अधिकतर भाग सेना और शासनाधिकारियों पर खर्च किया जाता था, और प्राचीन भारत इसका अपवाद नहीं था। वैदिकोत्तर काल में उत्तरी भारत में राजा लोग नियमित रूप से वेतन-भोगी सेना रखा करते थे। नन्द वंश के राजा के पास विशाल सेना थी। जब इसकी खबर सिकन्दर को मिली तो पूरब की ओर आगे बढ़ने की उसकी हिम्मत जाती रही। नन्दों के पास 20,000 घुड़सवार, 2,000 चार घोड़ों वाले रथ, और 3,000 से 6,000 तक हाथी थे। मगध के नन्दवंशी राजाओं के अतिरिक्त, इस उपमहाद्वीप के उत्तर-पूर्वी भाग में कम-से-कम पांच और राज्य थे जिनके यहां सुगठित सैन्य व्यवस्था कायम थी। इनके पास पदाति, अश्व, रथ और गज आदि की विविध सेनाएं कितनी-कितनी थीं इसके भी आंकड़े मिलते हैं।[2] शायद पड़ोस के राज्यों को जीतने वाले विम्बिसार से ही आरम्भ करके मगध के राजा नियमित वैतनिक सेना रखते आये, लेकिन उनके पास कब कितने सैनिक थे इसका पता केवल नन्दों और मौर्यों के विषय में यूनानी स्रोतों से मिलता है।

इस काल में आकर उन अधिकारियों का स्वरूप बदल गया, जो वैदिक काल में राजा की सहायता किया करते थे। अब वे अधिकारी राजन्य, अर्थात् राजा के निकट बन्धुजन नहीं होते थे। मध्य गंगा मैदानों के राजाओं के यहां मुख्य सलाहकार, अर्थात् **मन्त्रिन्**, अब राजा की ज्ञाति के नहीं होते थे। मगध में बस्सकार और कोसल में दीर्घचारायण प्रख्यात मन्त्री हुए, लेकिन वे दोनों राजवंश के नातेदार नहीं थे। मन्त्री बहुधा पुरोहित-समुदाय से लिये जाते थे।

सामान्यत: अब सैनिक और शासनाधिकारी राजा के बन्धुजनों से ही नहीं लिये जाते। राजकाज चलाने के लिए राजा को केवल अपने नातेदारों पर निर्भर रहने की आवश्यकता न रही। राजा को अपेक्षित सेवा प्राप्त हो जाती थी, क्योंकि वह उसके लिए वेतन चुकाने में समर्थ था। राजा का अपने सैनिकों व अधिकारियों के साथ एक नये ढंग का सम्बन्ध स्थापित हुआ। इसमें बन्धुत्वमूलक वैयक्तिक तत्व का स्थान था; इस सम्बन्ध की जगह निर्वैयम्तिक संस्थामूलक सम्बन्ध ने ले ली। राजा कर और विजय द्वारा जो कुछ अर्जन करता था, वह मुख्यत: राजकाज में खर्च होता था; पूर्व की भांति उसका बंटवारा नहीं होता था जिसमें सामान्य बंधुजन भी हिस्सा पाते थे। सब मिलाकर लगभग 500 ई०पू० आते-आते हमें सर्वांगपूर्ण राज्य का दर्शन होने लगता है। राज्य को हम ठोस सामाजिक आधार पर खड़ा पाते हैं, तथा सम्प्रभुता, राज्य क्षेत्र, कर-प्रणाली और शासकीय अधिकारी इन सभी तत्वों से वह युक्त दिखायी पड़ता है।

राजा को स्वेच्छा बलि (चढ़ावा) और भेंट (नजराना) अर्पित करने की परम्परा का अन्त हुआ और उसकी जगह बाध्यकारी कर-भुगतान की प्रथा चल पड़ी; यह राज्य के उद्‌भव के लिए बड़े ही महत्व की बात थी। यह प्रक्रिया तीन अवस्थाओं से गुजरी है। ऋग्वेद की पशुचारी अवस्था में सरदार को उसके ज्ञाति-समुदाय के सदस्य बलि, अर्थात् स्वैच्छिक भेंट चढ़ाया करते थे। अवश्य ही, सरदार के बन्धुजनों के बाहर विजित समुदाय के लोगों को बलि (नजराना) देने के लिए बाध्य किया जाता होगा और उनके पशु हर लिये जाते होंगे; यह युद्धार्जित धन विजेताओं के बीच बांटा जाता होगा, पर उसमें एक बड़े हिस्से पर सरदार अपना दावा करता और पाता भी होगा। उत्तर-वैदिक काल में जब लकड़ी के फाल वाले हल से खेती व्यापक रूप से होने लगी, तो पैदावार होने के कारण राजा अथवा सरदार के बन्धुजन भी बलि चुकाने के लिए अक्सर बाध्य किये जाने लगे। अन्ततोगत्वा जब मध्य गंगा के मैदानों में लोहे के फाल के इस्तेमाल के कारण उन्नत खेती की अवस्था आयी तब कर की उगाही नियमित रूप से होने लगी। इस तरह, बलि प्रथमतः चढ़ावे या भेंट के रूप में शुरू हुई, फिर अनियमित नजराना (ट्रिब्यूट) बन गयी और अन्ततः एक बधा हुआ कर नियत अन्तरालों पर बलपूर्वक वसूला जाने लगा। वूसली का काम अधिकारियों का एक दल करता था जो **बलिसाधक, बलिपटिगाहक, बलिनग्गाहक** आदि नामों से विदित हुआ।[3] विकास के ये चरण चाहे उतने स्पष्ट नहीं हों और कभी-कभी चाहे दो चरण साथ-साथ चलते हों, लेकिन बलि के बदलते स्वरूप को स्पष्ट देखा जा सकता है।

इसी प्रकार, सामुदायिक श्रम के उपयोग को सरदार और उसके सहयोगियों ने कैसे नियन्त्रित किया, यह भी पता लगाया जा सकता है। यदि हम लुशाइयों का जनजातीय दृष्टान्त लें तो हम पाते हैं कि सरदार को अपने खेत में खटाने के लिए अपने साधारण बन्धुजनों से स्वैच्छिक श्रम लेने का हक है।[4] पूर्वकाल में भी ऐसा होता होगा, क्योंकि बुद्ध के युग में जब सरदार की जगह राजा आया तो वह भी ग्रामवासियों को स्वयं बेगारी में खटाता था। जब वह शिकार के लिए निकलता था तो गांव के लोगों को कई तरह से उसकी सहायता करनी पड़ती थी। इस तरह की बेगारी **राज कार्य** कहलाती थी। शूद्र शिल्पी कर चुकाने के बदले महीने में एक दिन राजा के काम में खटकर बेगारी चुकाते थे। शूद्र वर्ण का अर्थ था सम्पत्तिहीन श्रमिक वर्ग, जिसका कर्तव्य ऊपर के केवल दो वर्णों की मजदूरी करना था। ऊपर के दो वर्ण राज्य के यथार्थ स्तम्भ थे। इसलिए वर्ण

व्यवस्था की रक्षा का अर्थ वैश्यों से कर वसूलना ही नहीं, बल्कि शूद्रों से बेगारी लेना भी था।

कई फ्रांसीसी नृविज्ञानियों का मत है कि वैवाहिक सम्बन्धों का सरदार नियन्त्रण एवं विनियमन इसलिए करते थे ताकि पुरातन समाजों में श्रम-शक्ति के प्रजनन को अपने वश में रख सकें।[5] लुशाई नर-नारियों में अपना-अपना विवाह स्वयं तय करने की खूब स्वतंत्रता है।[6] मध्य भारत के जनजातीय समाजों में यौन सम्बन्धों पर गुरुजनों का प्रत्यक्ष नियन्त्रण कहीं नहीं दिखायी पड़ता। युवकों और युवतियों को अपना जोड़ा चुनने की पूरी स्वतंत्रता थी, बशर्ते कि विवाह के अन्तः सीमा और बहि; सीमा विषयक जनजातीय नियमों का उल्लंघन नहीं होता हो। यदि वह बन्धुजनीन छोटा समुदाय होता तो ज्ञाति के भीतर और उपज्ञाति से बाहर होने का नियम लागू होता है। इस तरह के नियमों के उल्लंघन का अपराध या तो माफ कर दिया जाता था या अपराधी को समाज से निकाल दिया जाता था, जैसा कि संथालों के बारे में समय-समय पर खबरें मिलती रहती हैं। अन्यत्र मैंने यह बतलाया है कि प्राचीन ग्रन्थो में वैयक्तिक सम्पत्ति और पितृसत्तात्मक परिवार की रक्षा की आवश्यकता को राज्य के उद्भव का महत्वपूर्ण कारण माना गया है।[7] सम्भवतः, उत्तरवैदिक सरदारों ने बहिर्विवाह और अन्तर्विवाह (सवर्ण, पर अस्वजन विवाह) के नियम लागू किये। पितृसत्तात्मक ढांचे में बहनें और लडकियां दूर के अन्य परिवारों को सौंपी जाती थीं ताकि बदले में उन परिवारों की लड़कियां विवाह के लिए मिल सकें। इसी तरह औरतों को उत्पादकों के उत्पादन में लगाया जाता था।

इसमें संदेह नहीं कि प्राचीन भारत में राज्य को श्रम शक्ति की जरूरत थी, परन्तु यह स्पष्ट नहीं है कि वह श्रम शक्ति के उत्पादन को किस प्रकार नियन्त्रित या प्रोत्साहित करता था। कौटिल्य ने बताया है कि जनपद में प्रमुख रूप से निम्न वर्ण के लोगों ( **अवरवर्णप्रायः** ) को बसाया जाय, ताकि उनसे कर और श्रम प्राप्त किया जा सके।[8] अतः स्पष्ट है कि उत्पादक वर्ग की विवाह-प्रथा पर ऐसा प्रतिबन्ध नहीं लगाया जा सकता था जिससे श्रमिकों और करदाताओं का अभाव हो। इसके विपरीत, उच्च वर्णों के लोगों ने अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा बनाये रखने के लिए विवाह के विषय में कड़े नियम बना रखे थे। चार प्रकार के विवाह धर्मसम्मत बताये गये हैं– ब्राह्म, प्राजापत्य, आर्ष और दैव। इन चारों में कई प्रतिबन्ध हैं और चारों केवल, उच्च वर्णों के लिए, अर्थात् शासक वर्गों के लिए

अभिप्रेत हैं। इनके विपरीत, दूसरे चार प्रकार के विवाह-आसुर, पैशाच, राक्षस और गान्धर्व-अधम माने गये हैं। इनमें पुरुष और स्त्री दोनों को अधिक स्वतंत्रता दी गयी है; और ये मुख्यतः उत्पादक वर्ग और श्रमिक वर्ग, अर्थात् वैश्यों और शूद्रों के लिए अभिप्रेत हैं। धर्मशास्त्र द्वारा निर्धारित नियमों को सामाजिक मान्यता मिली, और अन्ततः उनके प्रचलन को राजकीय मंजूरी का अवलम्ब भी मिल गया। ध्यान देने की बात है कि अधर्म्य विवाह अपेक्षाकृत आसान था।[9] ऐसे विवाहों से उत्पादकों और श्रमिकों के प्रजनन को बढ़ावा मिला और उनकी कमाई पर जीने वाले प्रबल वर्गों की आवश्यकता पूरी होती रही। विवाह की संस्था इस ढंग से विकसित और विनियमित हुई कि निम्न और उच्च वर्णों के बीच सामाजिक दूरी बनी रही। उच्च वर्ण के लोगों को वैवाहिक सम्बन्ध की स्वतंत्रता नहीं थी; पर निम्न वर्णों की विवाह प्रथा पर अधिक प्रतिबंध नहीं था। फलतः किसान और श्रमिक अबाध रूप से अपनी जनसंख्या बढ़ाते रहे।

जैसा कि पहले दिखाया जा चुका है, लूट के धन, फाजिल उपज (अधिशेष) और श्रम शक्ति के बंटवारे को लेकर बन्धु-समुदाय के भीतर, बन्धु और अबन्धु के बीच तथा समाज के विभिन्न वर्गों के बीच लम्बे समय तक संघर्ष चलता रहा। बन्धु-समुदाय (भाई-बन्दों) के भीतर जो संघर्ष चला उसके दो परिणाम सामने आये। कोसल, मगध आदि क्षेत्रों में प्रबल एकतान्त्रिक राज्यों का उदय हुआ। ऐसे राज्यों में सत्ता बहुत-कुछ केन्द्रित थी और उसका प्रतिफलन राजा के माध्यम से होता था। राजा की सम्प्रभुता के अधीन क्षेत्र, कर और शासकीय अधिकारी वर्ग से युक्त आद्य राज्य सबल-साकार हो उठा। लगता है, इससे बन्धु समुदाय के भीतर अभिजात वर्ग का तथा सामान्य बन्धुजनों का अन्तर्विरोध भली भांति दब गया तथा कर, सेना और अधिकारी वर्ग की संस्थाएं सुविकसित होकर स्थायी तौर पर राज्य संभालने लगीं। सरदार या ज्ञाति-प्रमुख के नेतृत्व का आरम्भ जन सम्पत्ति से हुआ था, पर इसकी परिणति जन-निग्रह में इस सत्ता के प्रयोग में हुई। जिनके पूर्वज लोग बाहुबल और बुद्धि-बल देखकर सरदार को चुना करते थे वे ही अब उस सरदार के वंशज उत्तराधिकारियों को अपना प्रभु मानने के लिए बाध्य और विवश हो गये। यह इसलिए नहीं हुआ कि उन उत्तराधिकारियों में कोई वैसा गुण था, बल्कि इसलिए कि इस बीच सत्ता का नया ढांचा खड़ा हो गया था जिसके आगे उन्हें घुटने टेकने पड़े।

साथ ही साथ, बन्धु-समुदाय के भीतर चल रहे आपसी संघर्षों के फलस्वरूप शक्तिशाली राजा के हाथ से कुछ सत्ता खिसकने लगी। मेगास्थनीज

ने लिखा है कि भारत में राजा की शक्तियां छिनती गयीं और गणराज्य बनते गये। वास्तव में, इसका अर्थ यह है कि वैदिक काल में स्थापित कुछ शक्तिशाली राज्य विघटित हो गये और उनकी जगह छोटे-छोटे सरदारों का संघ (फेडरेशन) सत्ता में आया। इन सरदारों ने संघ के अन्दर अपने-अपने क्षेत्रों में अपनी स्वायत्तता कायम रखते हुए, संस्थात्मक तौर-तरीके चलाये ताकि अपने राजा या महाप्रभु पर अंकुश रख सकें। इस तरह सत्ता के हस्तान्तरण का उदाहरण वैशाली के लिच्छवियों में मिलता है। परम्परा के अनुसार लिच्छवि संघ में 7707 राजा था। उन्हें एक प्रकार की स्वायत्तता प्राप्त थी। इस कारण उनके प्रमुख राजा अथवा महाप्रभु की सम्प्रभुता का घटना अपरिहार्य था। ऐसा प्रतीत होता है कि वैशाली में प्रमुख राजा के भाई-बन्दों का जोर अधिक था, पर कोसल और मगध में यह बहुत घट चुका था। फिर भी इससे राज्य का ढांचा अधिक कमजोर नहीं हुआ, क्योंकि राज्य के अंगों के दृढ़ीकरण के लिए परिस्थितियां अनुकूल थीं। उत्तर वैदिक काल में मध्य गंगा के मैदान में एक नई भौतिक स्थिति पैदा हो चुकी थी। वैदिक काल की तुलना में इस काल में कहीं ज्यादा अधिशेष उपलब्ध था और उसे बटोर कर उपयोग में लाना सम्भव हो गया था। इसलिए राज्य के बनने की प्रक्रिया को पूरी तरह पलटना असंभव था।

मध्य गंगा मैदान में 500 ई॰पू॰ के आसपास जो सभी अंगों से युक्त राज्य प्रणाली उदित हुई, वह उत्तर वैदिक काल की बड़ी सरदारी या आद्य राज्य की परिणति थी। **शतपथ ब्राह्मण** और **ऐतरेय ब्राह्मण** में जिस तरह की शक्ति संरचना दिखायी देती है, यह बुद्ध युग के राज्य के काफी निकट है। परन्तु, वैदिकोत्तर काल में आकर ही राज्य, व्यवहारतः और सिद्धान्ततः स्पष्ट रूप में उभर कर सामने आता है। कर, सेना, अधिकारी वर्ग जैसी निर्वैयक्तिक संस्थाएं सरकारी या कवायली शक्ति की समाधि पर खड़ी हुई। दूसरे शब्दों में, बंधुता (Kinship) की जगह सरकार (Government) ने ले ली। सरदार के बाहुबल और जनबल का महत्व नहीं रहा, बल्कि महत्व हुआ बल-प्रयोग का, जोर-जबरदस्ती का और कठोर प्रबन्ध का जिसे धर्म और आदर्शवाद से संपुष्ट किया गया। ज्यों ही राज्य का अस्तित्व कायम हुआ, कर की उगाही को तथा निग्रह और दंड को उचित सिद्ध करने के लिए तरह-तरह के सिद्धान्त प्रतिपादित होने लगे। **ऐतरेय ब्राह्मण** में बल-सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है, जिसके अनुसार राज्य का उद्भव युद्ध-संबंधी आवश्यकताओं के कारण हुआ।[10] किन्तु बौद्ध ग्रन्थों और कुछ हिन्दू ग्रन्थों में भी राज्य का उद्भव अनुबंध से बताया गया है (प्रजा कर

देगी और राज्य उसके बदले उसकी रक्षा करेगा),[11] और इस प्रकार इसे सर्वसम्मति का बाना पहनाने की चेष्टा की गयी। परन्तु अन्य मतों के अनुसार, जो अधिक यथार्थ प्रतीत होते हैं, राज्य का उद्भव परिवार, सम्पत्ति और वर्ण व्यवस्था की रक्षा के लिए हुआ है।[12]

एंगेल्स ने राज्य का उद्भव जेन्टाइल या जन-जातीय संघटन के खंडहर पर तीन स्वरूपों में बताया है। एथेन्स में शुद्ध और श्रेण्य स्वरूप मिलता है; यहां राज्य का जन्म सीधे उस वर्ग-विरोध से होता है जो स्वयं जेन्टाइल या जनजाति के समाज में चल रहा था। रोम में बहुसंख्य साधारण जनों के बीच जेन्टाइल समाज एक घेराबन्द अभिजात तन्त्र बन बैठता है; साधारण जन इस घेरे के बाहर कर दिये जाते हैं, और उन पर कर्तव्य लाद दिये जाते हैं, पर उन्हें अधिकार नहीं दिये जाते हैं, फिर साधारण जनों की जीत होने पर बधुत्व या बिरादरी पर आधारित पुराना संघटन टूट जाता है और उसके ध्वंसावशेषों पर राज्य खड़ा होता है जिसमें जेन्टाइल अभिजात वर्ग और साधारण जन शीघ्र घुल-मिल जाते हैं। अन्त में, रोम साम्राज्य को हड़पने वाले जर्मन शत्रु के विशाल राज्य क्षेत्रों का अपहरण कर राज्य को जन्म देते हैं। वहां जेन्टाइल संघटन द्वारा बड़े क्षेत्र में शासन करने का कोई साधन नहीं है।[13]

भारत में राज्य का उद्भव किस प्रकार हुआ यह सामान्य रूप से भी बताना कठिन है, अलग-अलग स्थानों को ले-लेकर कारणों और प्रक्रियाओं का निरूपण करना, जैसा कि तीन मामलों में एंगेल्स ने किया है और भी कठिन लगता है। राज्य का ढांचा वैदिक काल का अन्त होते-होते अंशतः दिखायी देने लगता है और 500 ई॰पू॰ के आस-पास पूर्ण रूप में निखर आता है। उत्पादन में लोहे का उपयोग और धान की रोपनी की प्रथा चालू होने से बुद्ध के युग में आकर मध्य गंगा मैदान और उसके इर्द-गिर्द ऐसी स्थिति बनी कि खपत से कुछ फाजिल कृषि-उपज उपलब्ध हो सके। इस शुभ लक्षण से स्थिरवासी जीवन पद्धति मजबूत हुई, और भू-भाग से लोगों का लगाव बढ़ा। संघर्ष योग्य बचत (अधिशेष) से विशेषज्ञों का और उत्पादकेतर लोगों का जीवन-निर्वाह सम्भव हुआ। इससे नकद या जिन्स दान देना संभव हुआ जो भिक्खुओं और पुरोहितों के जीवन-निर्वाह का समाधान; कर चुकाना संभव हुआ जिससे योद्धाओं, शिष्टों सैनिकों और अधिकारियों का भरण-पोषण होने लगा; तथा कच्चे माल की उपज और विनिमय-प्रणाली संभव हुई जिस पर शिल्पियों और वणिकों की आजीविका

चली। लेकिन ब्राह्मणों और अन्य धर्माचार्यों ने धार्मिक आधार पर तथा क्षत्रियों ने राजनैतिक आधार पर इस अधिशेष पर अपने-अपने हिस्से का दावा किस प्रकार कायम कर लिया, इस प्रश्न का संतोषजनक समाधान अभी तक नहीं मिला है। स्वैच्छिक भेंट या चढ़ावा (बलि) करके रूप में परिणत हो गया और कबीला अथवा समुदाय के लिए स्वैच्छिक श्रमदान राजा के लिए बेगारी के रूप में परिणत हो गया। जनजातीय समुदाय के सामान्य हित के काम में बन्धुजन एक-दूसरे के लिए काम करते थे। जब क़बायली समाज टूटने लगा तब राजा कबीले का मुख्य प्रतिनिधि होने के नाते स्वयं ऐसी मुफ्त श्रम करने की घटना पाते हैं। ज्ञातिजन सभाओं में जुटकर लड़ते थे, विचार-विमर्श करते थे और लूट का माल बांटते थे। वैदिकोत्तर काल में ये सभाएं वास्तव में समाप्त हो गयीं। जो कबायली लोग कृषक परिवारों के रूप में संगठित हुए, वे अपने पारम्परिक अधिकारों से वंचित हो गये। कृषक परिवार लड़ने का अधिकार खो बैठे, जिसके परिणामस्वरूप लूट (शौर्यधन) में उनका हिस्सा मिलना बन्द हो गया। इतना ही नहीं, उन्हें धार्मिक अनुष्ठानों (संस्कारों) का भी अधिकार न रहा; और इस प्रकार उनके और ऊपर के दो वर्गों के बीच एक खाई बन गयी।

वे आपसी विवाद-निबटाने का अधिकार भी खो बैठे। पूर्व में जनजातीय सभाएं, जिनमें पुरुष और स्त्री दोनों रहते थे, स्पष्टतः न्याय-कार्य किया करती थीं। अब यह काम राजा द्वारा नियुक्त छोटे-छोटे मंडल या उच्च वर्ग अधिकारी करने लगे। प्रतीत होता है कि जब निजी सम्पत्ति की प्रथा चली और विस्तृत प्रादेशिक राज्य में वैदिकेतर और विजातीय जन सम्मिलित हो गये, तब वर्गमूलक और सम्पत्तिमूलक विवाद बढ़ गये जिनके निर्णय के लिए जनजातीय परम्परा समर्थ नहीं थी। इसलिए ब्राह्मण धर्मशास्त्रियों को धर्मसूत्र अर्थात् कानून की पुस्तकें लिखनी पड़ीं।

इस प्रकार जब वैदिकोत्तर काल में अंश पाने, युद्ध करने, सरदार को चुनने तथा **सभा, समिति, विदथ, गण और परिषद** जैसी बन्धुजनीन गोष्ठियों में जुट कर आपस में विचार-विमर्श करने की कबायलियों या ज्ञातिजनों की शक्ति क्षीण होते-होते अन्ततः समाप्त हो चली, तब जाकर राज्य का उदय हुआ। शक्ति, परम्परा, अनुभव और वैचारिक प्रचार के बल पर कुछ परिवारों ने कर वसूलने, युद्ध करने और विधि-व्यवस्था बनाये रखने का अधिकार हथिया लिया। इसमें उन्हें कुछ ऐसे परिवारों का समर्थन मिला, जिन्होंने यजमानों से धार्मिक दान पाने

और उन्हें धार्मिक अनुष्ठान कराने का एकाधिकार प्राप्त कर लिया था। ये दोनों वर्ण राज्य के नेता के रूप में उभरे। सरदार लोग, जो राजन्य/क्षत्रिय कहलाये, तथा पुरोहित लोग, जो ब्राह्मण कहलाये, जनजातियों के प्रभुत्व को दबाकर ऊपर उठे और भारत में सर्वलक्षण-सम्पन्न राज्य की स्थापना का मार्ग प्रशस्त हुआ।

बन्धुजनीन समाज का पतन और वर्गीय समाज का बढ़ता हुआ प्रभुत्व, दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। आरम्भिक अवस्था में वर्ग वर्ण के रूप में प्रकट हुआ और इसका द्योतक हुआ कि कौन, फ़ाजिल उत्पादन (अधिशेष) पर जीने वाला है और कौन उत्पादन करने वाला है। वर्ण-प्रणाली में अधिकतर लोग उत्पादन के संसाधनों से वंचित नहीं हुए थे, क्योंकि तब संसाधनों पर इने-गिने परिवारों का एकाधिकार नहीं हुआ था। पुरोहितों (ब्राह्मणों) और योद्धाओं (क्षत्रियों) को भूमि और पशु पर कब्जा जमाने में उतना फायदा नहीं था, जितना उन्हें अपने-अपने कर्मों से और कर की छूट से था। मुख्य भार किसानों (वैश्यों या गहपतियों) के सिर पर था, जो वैदिकेतर जनों में घुल-मिल गये और वैदिक जनों के कुछ-न-कुछ अंश में अंग थे। हर किसान परिवार के पास अपनी थोड़ी-बहुत जमीन थी, जिस पर उसका वैदिक काल में सम्भवतः अस्थायी कब्जा होता था, पर वैदिकोत्तर काल में आकर स्थायी कब्जा हो गया। जो कुछेक सम्पन्न परिवार अपने खेत में दासों और मजदूरों से मेहनत करवाते थे और व्यापार करते थे, उन्हें अपनी सम्पत्ति बचाने के लिए राजनैतिक संरक्षण नितान्त आवश्यक हो गया। ये वैश्य या गहपति लोग यज्ञकर्म और यज्ञोपवीत धारण तो कर सकते थे, लेकिन कर चुकाने से बरी नहीं थे तथा युद्ध और प्रशासन से दूर रखे गये थे। राजा प्रजा का या किसानों का रक्षक भी बन गया और भक्षक भी। वह एक प्रकार के कृत्रिम परिवार का मानो मुखिया बन गया जो परिवार के लोगों से श्रम और उत्पादन कराता और उसके बदले उनका पालन-पोषण करता है। रोचक बात है कि कुछ अन्य पुराने समाजों में भी राजा को अपनी प्रजा को 'खाने' का हक था।[14]

यद्यपि चारों वर्ण (शूद्रों को मिलाकर, जो आरम्भ में अल्पसंख्या में थे) एक ही मूल पुरुष से उत्पन्न बताये गये हैं, तथापि ब्राह्मणों और क्षत्रियों ने विशों, अर्थात् किसानों को धीरे-धीरे उनके पारम्परिक अधिकारों से वंचित कर दिया, और यहां तक कि उनकी उपज के कुछ हिस्से पर भी अपना हक जमा लिया। ऊपर के दोनों वर्ण दान और कर के हकदार होने के नाते राज्य का प्रतिनिधित्व

करने लगे। उन्होंने अधिक जमीन पर स्वामित्व स्थापित नहीं किया, जैसाकि यूनान और रोम में हुआ है।

भारत में अंततः राज्य का जन्म उस संघर्ष से हुआ जो जनजातीय कृषक समाज के अन्दर पुरोहित वर्ग सहित योद्धा वर्ग तथा किसान वर्ग के बीच दीर्घकाल तक चलता रहा। वैदिक काल के अन्त में जनजातीय सैन्य गणतंत्र पुरोहितों को भी शामिल करके अभिजात तंत्र के रूप में परिणत हो गये। परन्तु बंधुत्वबद्ध प्राथमिक उत्पादकों के कुछ टुकड़े क्यों और किस प्रकार पूर्णरूपेण पुरोहित और राजन्य/ योद्धा बन गये, और कैसे किसानों को दबाकर सुविधाभोगी समूहों के रूप में सुसंगठित हो गये, और किस प्रकार बान्धव जनों की जगह वर्णों की प्रधानता आयी – इस दिशा में और भी अनुसंधान अपेक्षित हैं। लोगों को सामुदायिक सूत्र में बांधने वाली बान्धव-प्रणाली किस प्रकार संसाधन और श्रम को हथियाने की होड़ में लगे सीमित समूहों के आधिपत्य वाली प्रणाली बनती गयी, इसका पूरा विवरण अभी तक नहीं निकाला जा सका है।[15] इस पुस्तक में कुछ विवेचन किया गया है, वह इस दिशा में एक प्रकार का आरम्भिक प्रयास है।

## संदर्भ–


1. आर.एस. शर्मा, "**टैक्सेशन एण्ड स्टेट फार्मेशन इन एंशिएट इंडिया**, इन नार्दन इंडिया इन प्री-मौर्य टाइम्स", सोशल साइंस प्राबिंग्स, I अंक 1, 1984, पृ॰ 1-32।
2. इन सभी सेनाओं की संख्या के लिए पूर्वोद्धृत के पृ॰ 24-27 देखें।
3. आर.एस. शर्मा, "**टेक्सेशन स्टेट फार्मेशन...**", सोशल साइंस प्राबिंग्स, I 1984, पृ॰ 20।
4. एन.ई. पैरी, पूर्वोद्धृत, पृ॰ 6।
5. एडन साउथहाल, पूर्वोद्धृत, पृ॰ 187 तथा पादटि, 160 और 161 (पृ॰ 192 पर) में उद्धृत। **क्लाउड मेलेक्स, ल' एन्थ्रोपोलाजिए इका. मिक देस गोवको दे कोते द'** आइवोयरे, पेरिस 1964 का विवेचन इमेनुएल टेरी, मार्क्सिज्म एण्ड प्रिमिटिव सोसाइटीज, लंदन, 1972 में किया गया है।
6. एन.ई. पैरी, पूर्वोद्धृत, पृ॰ 2-122।

7. आर.एस. शर्मा, आस्पेक्ट्स ऑफ पॉलिटिकल आइडियाज...अध्याय V।

8. कौटिल्य का अर्थशास्त्र, VII. 11।

9. आर.एस. शर्मा, पर्सपेक्टिव्स इन सोशल एण्ड इकॉनामिक हिस्ट्री ऑफ अर्ली इंडिया, दिल्ली, 1983, पृ॰ 49।

10. ऐतरेय ब्राह्मण, VII. 12-17।

11. आर.एस. शर्मा, आस्पेक्ट्स ऑफ पॉलिटिकल आइडियाज, अध्याय V।

12. वही, अध्याय IV।

13. डीकॉक, सम्या, पूर्वोद्धृत, पृ॰ 228।

14. डेविड सैडन, सम्पा., रिलेशन्स ऑफ प्रोडक्शनः मार्क्सिस्ट एप्रोच ट, इकॉनामिक एन्थ्रोपालोजी, लंदन, 1978, पृ॰ 166-67।

15. एलीना लीकॉक, "मार्क्सिज्म एण्ड एंथ्रोपालाजी" दि लेफ्ट अकादमी, सम्पादक बर्टल ओलमैन तथा एडवर्ड वर्नफ, प्रथम मिग्राहिल संस्करण, 1982, पृ॰ 247।